दंसण मूलो धम्मो

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्गदर्शक आध्यात्मिक मासिक

वीर सं० २४९६ तंत्री-पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार, भावनगर वर्ष २६ अंक नं० २

स्वभाव की स्वीकृति

चारित्र

ज्ञान

दर्शन

हे जीव! तू अनंत धर्म के वैभव से भरा हुआ है। यह तेरे स्वभाव की बात तुझे बतलाते हैं। अपने स्वभाव को एक बार स्वीकार तो कर। इस पूर्ण ज्ञानघन स्वभाव को स्वीकार करने में-उसकी प्रतीति करने में विकल्प की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि निर्विकल्प ऐसे वस्तुस्वभाव की श्रद्धा-प्रतीति करने में विकल्प (शुभाशुभराग) का अवलम्बन नहीं होता। निर्विकल्प वस्तु में विकल्प को साथ लेकर प्रवेश नहीं किया जाता। अहो, चैतन्य भगवान कैसा शुद्ध है! और उस अनंत गुणसम्पन्न चैतन्य भगवान का संपर्क करानेवाली परिणति भी उसी के समान शुद्ध, रागरहित होती है।

श्री दिगंबर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट, सोनगढ (सौराष्ट्र)

जुलाई : १९७० वार्षिक मूल्य ३) रुपये (३०२) एक अंक २५ पैसा [ज्येष्ठ : २४९६

कौन मुक्ति प्राप्त करता है ?

कौन मुक्ति प्राप्त करता है ?

जो शुद्धात्मा का अनुभव करता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है।

कौन मुक्ति प्राप्त नहीं करता ?

जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करता किंतु पर का आश्रय करता है, वह मुक्ति को प्राप्त नहीं करता।

व्यवहार का आश्रय किसलिये छोड़ना ?

व्यवहार का आश्रय, वह पर का आश्रय है; पर का आश्रय करने से मुक्ति नहीं हो सकती, पर का आश्रय तो बंध का ही कारण है। इसलिये बंध से जिसको छूटना हो, उसको स्वाध्याय द्वारा पराश्रित व्यवहार का त्याग करना चाहिये। प्रथम श्रद्धा में सर्व मिथ्याभावों का त्याग और पूर्ण शुद्धज्ञानचेतना का ग्रहण चारित्र में क्रमशः होता है।

निश्चय का आश्रय किसलिये करना ?

निश्चय, वह स्वद्रव्य के आश्रित है, उसका आश्रय करने से ही मुक्ति होती है। इसलिये मोक्षार्थी जीव को निश्चय का आश्रय करना चाहिये। [निचली भूमिका में व्यवहारनय के विषयभूत भेद होते हैं, उसे जानता है किंतु श्रद्धा में प्रथम से ही राग, निमित्त-व्यवहार को हेय मानता है। अतः उनका आश्रय नहीं करता। उनका आश्रय करने से वीतरागता होगी, ऐसा मानना मिथ्यात्व है। व्यवहार मिथ्या नहीं है; व्यवहार से मिथ्यात्व नहीं होता किंतु उसके द्वारा निश्चयधर्म होता है—ऐसा मानना मिथ्यात्व है।]

शाश्वत सुख का मार्गदर्शक मासिकपत्र

आत्मधर्म

संपादक : (१) श्री ब्र० गुलाबचंद जैन (२) श्री ब्र० हरिलाल जैन

जुलाई : १९७० ☆ ज्येष्ठ, वीर नि०सं० २४९६, वर्ष २६ वाँ ☆ अंक : २

धर्मात्मा की निर्ममता

जिसे भेदज्ञान हुआ है, ऐसा धर्मात्मा अपने आत्मा का कैसा अनुभव करता है—उसका यह वर्णन है। अंतर्मुख होकर वह अनाकुलरूप से 'एक ज्ञान ही मैं हूँ'—ऐसा स्वयमेव अपना अनुभव करता है। अनेक पदार्थों के बीच रहने पर भी निश्चय से मैं एक हूँ—ऐसा निर्णय कर लेने के कारण परद्रव्यों की ओर से अपनी परिणति को समेटकर एक स्वद्रव्य की सन्मुखता से स्वभाव का स्वाद लेता है। समस्त परद्रव्यों से भिन्न ऐसे स्वद्रव्य के अतीन्द्रिय आनंद के स्वाद के कारण वह धर्मात्मा समस्त परद्रव्यों के प्रति निर्मम है... कोई भी परद्रव्य उसे अंशमात्र अपनेरूप भासित नहीं होता; एक ज्ञायकस्वभाव का ही सदा अपनेरूप से अनुभव करता है। ऐसा अनुभव करनेवाला धर्मात्मा ज्ञान-दर्शन स्वभाव में ही वर्तता हुआ अपने ज्ञायक-उद्यान में केलि करता है। ज्ञायक-उद्यान में निजानंद की केलि करते-करते उस धर्मात्मा की परिणति से ऐसी झंकार उठती है कि:—

'छुं एक शुद्ध ममत्वहीन हुं ज्ञानदर्शनपूर्ण छुं।
अेमां रही स्थित लीन अेमां शीघ्र आ सौ क्षय करूँ।'

मिथ्यात्व से भावमरण होता है

(उस भावमरण के भयंकर दुःख से छूटने का उपाय—भेदज्ञान)

(समयसार कलश १६८ से १७२ ऊपर के प्रवचनों से)

जगत के जीव जिस भूल के कारण भावमरण कर रहे हैं, उस भूल का प्रकार समझाकर और उससे छूटने का उपदेश देकर वीतरागी संतों ने जीवों को भावमरण से बचाया है। भैया! सर्वप्रथम यह निर्णय कर कि तेरा कार्यक्षेत्र तेरे अपने में ही है, तेरे से बाहर में तेरा कार्य जरा भी नहीं है—इसप्रकार पर से अत्यंत भिन्नता समझकर अपने निजस्वरूप को संभाल—यह भावमरण से छूटने का तथा परम आनंद की प्राप्ति का उपाय है।

जगत में सर्व जीवों को जीवन या मरण, साता या असाता संयोग या वियोग ये अपने-अपने कर्मोदय के अनुसार होते हैं; परंतु जो ऐसा मानता है कि मैं किसी का हित-अहित करता हूँ—वह मात्र उसका अज्ञान है और ऐसा अज्ञानमय मिथ्याभाव ही (फिर भले वह शुभ हो या अशुभ), वह भावहिंसा है, अधर्म है। भैया! सामनेवाले जीव की आयु पूरी हुए बिना कोई भी उसे मारने को समर्थ नहीं। उसके, साता का उदय न हो तो कोई उसे सुख का कारण नहीं है और असाता के उदय बिना कोई उसे दुःख देने को समर्थ नहीं है। इस तरह खुद में किये भावों के फल के अनुसार जीवन-मरण सुख-दुःख होता है। वहाँ दूसरा मुझे जीवित रखे-मारे या सुख-दुःख दे या मैं दूसरों को जीवित रखूँ-मारूँ या सुख-दुःख दूँ—ऐसा जिसे भ्रम है, वह जीव निःशंकरूप से मिथ्यादृष्टि ही है। जो जीव पर में कर्तृत्व की ऐसी मिथ्याबुद्धि करते हैं, वह जीव निश्चित मिथ्यादृष्टि ही है, ऐसा जानना।

भैया! तू तो ज्ञान है! ज्ञानतत्त्व तो शुभाशुभ का भी कर्ता नहीं, वहाँ पर का कर्तृत्व तुझमें कैसा? तू तो अपने ज्ञान का ही स्वामी है, तू पर का स्वामी नहीं है, परवस्तु के कार्य का मालिक

(कर्ता) वह वस्तु ही है, उसके बदले तू उसका मालिक (कर्ता) बनने जाता है, तो वह अन्याय है, अज्ञान है। तेरे कार्य का मालिक दूसरा नहीं है, तथा तू दूसरे के कार्य का मालिक नहीं। स्वाधीनरूप से जगत के पदार्थ अपना-अपना कार्य कर रहे हैं।

ऐसे वस्तुस्वरूप को जो जानता नहीं है और अन्य जीव को, अन्य जीव द्वारा, मोह से सुख-दुःख, जीवन-मरण या बंध-मोक्ष होने का मानता है, वह मिथ्यात्वरूप अशुद्धता से परिणमन करता है। दूसरा जीव मुझे राग कराके बाँधे या दूसरा जीव मुझे ज्ञान देकर तारे—ऐसी स्व-पर में कर्ता-कर्म की एकत्वबुद्धि, वह मिथ्यात्व है; वह मिथ्यादृष्टि जीव तीव्र मोह द्वारा चैतन्य प्राण का घात करता है, स्वयं अपने आत्मजीवन का नाश करता है, वही सबसे बड़ी भावहिंसा है।

यह मेरा मित्र, यह मेरा शत्रु, यह मुझे सुख देनेवाला, यह मुझे दुःख देनेवाला अथवा मैं अन्य का मित्र, अन्य का शत्रु, मैंने अन्य को सुख दिया, मैंने अन्य को दुःख दिया, ऐसी मिथ्याबुद्धि से अज्ञानी राग-द्वेष को ही करता है। पर के साथ कर्तृत्वबुद्धि हो, वहाँ राग-द्वेष का कर्तृत्व नहीं छूटता। राग-द्वेष-मोहरूप अशुद्धता द्वारा जीव के शुद्ध चैतन्यप्राण का नाश होता है—वही आत्महिंसा है। इस तरह अज्ञानी स्वयं अपने आत्मा का घात करता है। अतः वह आत्मघाती है, और यह आत्मघात ही महापाप है, उसमें भावमरण का भयंकर दुःख है।

अरे! मेरा आत्मा तो ज्ञान है। ज्ञान का कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं; ज्ञान सुखी-दुःखी सबको जानता है परंतु ज्ञान किसी को सुख या दुःख नहीं देता, दूसरा कोई पदार्थ ज्ञान को सुख-दुःख देनेवाला नहीं, मैं ज्ञानस्वरूप ही हूँ, ज्ञान में राग के शुभ विकल्प का भी कर्तव्य नहीं—ऐसा स्वयं अपने को ज्ञानरूप अनुभवनेवाला ज्ञानी धर्मात्मा, जगत के किसी भी परभाव को किंचित् अपना नहीं करते, अपने से भिन्न जानते हुए उसके ज्ञाता ही रहते हैं।

अरे! ज्ञान में पर के कर्तृत्व का बोझा कैसा? और ज्ञान में पर कारण की पराधीनता कैसी? ऐसा ज्ञान स्वयं निराकुल शांतरस से भरा है; वही स्वयं वीतरागी आनंद का रूप है।

देहबुद्धि के कारण मैं देव, मैं मनुष्य इत्यादि रूप से प्रवर्तता है, वह भी अज्ञानी है। पर की क्रिया नहीं कर सकता तो भी करने का अभिप्राय करता है, यानि कि ज्ञानभावरूप नहीं परिणमता परंतु अज्ञानभावरूप परिणमता है, उसका नाम मिथ्यात्व है। मोक्ष तो ज्ञान के आश्रय से होता है, ज्ञानरूप शुद्धात्मा के अनुभव से मोक्ष होता है, उसके बदले शुभविकल्प के अहंकार

से जो शुभ को साधन मानता है, उससे कहते हैं कि अरे मूढ़! शुभराग की एकत्वबुद्धि से तेरे ज्ञान जीवन की हिंसा होती है, राग स्वयं बंधभाव है, वह मोक्ष का कारण कैसे होगा?

जगत में अनंत जीवों का वास है, वे सब जीव स्वाधीन हैं और असहाय हैं अर्थात् बिना दूसरों की सहायता से ही रहनेवाले हैं, उसमें कोई किसी का स्वामी नहीं है। पर का जीवन अपने आधीन न होने पर भी मैं पर को जिन्दा रखूँ—ऐसी मिथ्याबुद्धि से अपना भावमरण होता है। अरे! पर को जीवित रखने की बुद्धि में अपना मरण होता है, भावमरण होता है, उसे अज्ञानी देखता नहीं। अपने आत्मा को उस भावमरण से बचाने और सच्चा जीवन पाने के लिये हे जीव! तू भेदज्ञान कर, भेदज्ञान द्वारा पर से अपनी भिन्नता जान। बिना भेदज्ञान के भावमरण नहीं मिटेगा।

भैया! तेरे विकल्प के बिना सामनेवाले जीव को सुख-दुःख, जीवन-मरण तो उसके अपने भावों से होता ही है, तो उसमें तूने क्या किया? तेरा विकल्प होने पर भी उसके अभिप्राय अनुसार सामनेवाले जीव में कुछ नहीं होता; तेरा किसी जीव को मारने का अभिप्राय होने पर भी वह बच जाता है, तेरा बचाने का अभिप्राय होने पर भी वह मर जाता है, यह तो उसके अपने कारण से होता है, तेरे कारण से नहीं होता; तो भी तू कर्तापना मानता है, वह तेरा मिथ्याभाव है, और वह तेरा मिथ्याभाव ही तुझे दुःख का कारण है। यह जीव दुःख में पिसा जा रहा है, उसमें से छूटने की बात है। ज्ञानभाव द्वारा जीव कर्मों से छूटता है, अज्ञानभाव द्वारा जीव कर्मों से बँधता है; इसके अलावा कोई भी उसे बाँधने या छुड़ानेवाला नहीं है।

जीव स्वयं यदि रागादि बंधभावों को न करे तो जगत के दूसरे किसी पदार्थ में ऐसी शक्ति नहीं कि जीव को बंधन कराये। वीतरागभाव प्रगट करके जीव स्वयं परिणमे, वहाँ उसे रोकने में कोई समर्थ नहीं है—इस तरह बंध में या मोक्ष में जीव अकेला ही है, स्वयं ही स्वतंत्ररूप से अपने बंध-मोक्ष को व सुख-दुःख को करता है। ऐसी स्वाधीन दृष्टि द्वारा पर का कर्तृत्व छूटे, और पर मेरा करता है—ऐसी पराधीन बुद्धि छूटे-भेदज्ञान होकर स्वयं अपने ज्ञानभावरूप परिणमे-वही सुख है, वही मोक्ष का उपाय है।

अरे जीव! तेरे सामने मरण खड़ा है, तो भी क्यों तुझे बाह्य-विषयों में हर्ष आता है? देह का संयोग तो छूट जायेगा—यह तो सामने दिखाई देता है, तो भी तू क्यों आत्मा की संभाल नहीं करता? जीवन तो क्षणभंगुर है, उसकी कुछ चिंता है या नहीं? या अकेले बाह्य विषयों में ही

जीवन खो रहा है ? देहादि सर्व संयोगों से आत्मा भिन्न है, और अंदर राग से भी भिन्न है—जब पर के साथ कुछ संबंध नहीं, फिर पर की रुचि कैसी ? राग का उत्साह कैसा ?

अरे ! पर के कर्तृत्व में और राग के रस में जीव अपना स्वरूप भूल रहा है। आत्मा पर का करे, और पुण्य से धर्म हो—यह बात सर्वज्ञदेव के जैनशासन की मर्यादा के बाहर है। तेरी चैतन्य सीमा में राग का प्रवेश कैसा ? और उसमें जड़ का कार्य कैसा ? पर का करने की बुद्धि से तो तेरा स्वयं का अहित होता है।

(१) आज तक तूने किसी पर का कार्य नहीं किया है।

(२) कोई अन्य तेरा कुछ नहीं कर सकते।

(३) अपने आत्मा को भूलकर, अपनी पर्याय में तूने अज्ञान राग-द्वेष किये हैं, उसमें तेरा भवभ्रमण है।

(४) यह अज्ञान तथा राग-द्वेष भी तेरे आत्मा का नित्य स्वभाव नहीं है। तेरा आत्मा शुद्ध ज्ञानस्वरूप है। उसका ज्ञान करने से अज्ञान टले और ज्ञानभाव प्रगट हो—वह धर्म है, वही तेरा हित है।

अज्ञान से तू अपने आत्मा का हिंसक था ! भेदज्ञान द्वारा उस हिंसारूप भावमरण को टालने से ज्ञानानंदमय जीवन प्रगट होता है। आत्मा तो जगत का साक्षी ज्ञानचक्षु है। वह ज्ञानचक्षु जानने के अलावा बाह्य में क्या करे ? ज्ञानचक्षु के द्वारा बाह्य के कार्य करवाना जो मानता है, वह तो आँख से पत्थर उठवाने जैसा मानते हैं।

— ज्ञान की महानता इसमें नहीं है कि पर का कार्य करे।

— ज्ञान की महानता इसमें नहीं है कि रागादि भाव करे।

— ज्ञान की महानता तो इसमें है कि जगत से भिन्न तथा रागादि से भिन्न अपने वीतरागी ज्ञानानंद को जाने और उसका अनुभव करे।

— जिसे जगत में कुछ करना नहीं है, शुभराग का एक कण भी जिसमें नहीं, ऐसा शांत अरागी ज्ञान है। ऐसे ज्ञानस्वरूपी आत्मा को न पहिचाने, तब तक पर के साथ एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व नहीं मिटता एवं बिना मिथ्यात्व मिटे जीव को सुख नहीं होता।

अपने ज्ञानस्वरूप को नहीं जाननेवाला अज्ञानी जीव अज्ञान के कारण जगत में सर्वत्र एकताबुद्धि करता है। एक रजकण का भी जिसने कर्तृत्व माना, उसे जगत के सर्व पदार्थों की

कर्तृत्वबुद्धि है ही। राग के एक शुभ अंश से जिसने लाभ माना, उसने सर्व राग को आत्मा का स्वरूप माना। राग से भिन्न ज्ञानस्वरूप आत्मा का, उसने अनुभव नहीं किया। पर से भिन्न आत्मा को अनुभव करे, वह पर से कर्तृत्व कैसे माने? वह पर में आत्मबुद्धि कैसे करे? अरे! आत्मा को भूलकर, पर में आत्मबुद्धि से जीव ने संसार में अनंतानंत अवतार किये... जगत में सब जगह उत्पन्न हो चुका और जहाँ-जहाँ उत्पन्न हुआ, वहाँ-वहाँ अज्ञानभाव से अपनापन माना। कीड़ी (चींटी) के भव में खुद को कीड़ी माना, और हाथी के भव में 'मैं हाथी'—इसप्रकार अपने को हाथी माना। देव के भव में अपने को देव माना और नारकी के भव में अपने को नारकी माना; सर्वत्र सर्व परभावों में अपनापन माना। परंतु उन सबसे भिन्न मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, ऐसा आत्मानुभव एक क्षणमात्र भी जीव ने नहीं किया। अरे! पर में एकत्वबुद्धि से, मोह में जीव पागल होकर, चारगति में भटक रहा है, और अनेक प्रकार के मिथ्या विकल्प कर-करके दुःखी हो रहा है। जहाँ शुभराग का कर्तृत्व भी दुःख है, वहाँ अशुभ की या जड़ की तो बात ही क्या? जो अपने परिणामों के आधीन नहीं, ऐसे जगत के पदार्थों के पीछे जीव पागल बना है... पागलपन से उसका कर्तृत्व मानता है... उसमें चैतन्य का भावमरण है। भैया! क्षण-क्षण ऐसे भावमरण से तू दुःखी हो रहा है, उस भावमरण के दुःख से छूटने के लिये, वीतरागी संत तुझे तेरा चैतन्यजीवन दिखाते हैं—जिसमें राग का अंश नहीं, पर का संबंध नहीं, ऐसे अपने चैतन्यस्वभाव को जानना-मानना अनुभवना—वह भावमरण से मुक्त होने का, तथा परम आनंद पाने का उपाय है।

जैसे रास्ता चलते मनुष्यों को या हाथी इत्यादि को देखकर कोई पागल पागलपन से ऐसा माने कि यह पदार्थ मेरे हैं, मैं उनको चलाता हूँ, उसीप्रकार स्वयं परिणमते हुए जगत के जड़ चैतन्य पदार्थों को देखकर जो ऐसा मानता है कि ये पदार्थ मेरे हैं। मैं उनका कर्ता हूँ—वह जीव मिथ्यात्व से पागल हुआ है। सत्-असत् की भिन्नता का उसको ज्ञान नहीं, स्व-पर की भिन्नता का उसको ख्याल नहीं, और एक को दूसरे में मिलाता है; उसका सब जानपना उन्मत्तवत् है—ऐसा तत्त्वार्थसूत्र में कहा है।

पर का मैं करूँ और पर मेरा करे, ऐसा माननेवाला, अज्ञानी जीव अपने में भी आत्मा को पर्यायबुद्धि से देखता है, अर्थात् रागी-द्वेषी-अशुद्धरूप ही अनुभवता है। पर को बचाने की शुभवृत्ति हुई, वहाँ वह शुभवृत्ति का राग मेरा कर्तव्य है—इसप्रकार रागस्वरूप ही अपने को

अनुभवता है, परंतु राग से पार चैतन्य-कार्य को नहीं जानता। ऐसा अज्ञान जब तक नहीं मिटे, तब तक ज्ञान और आचरण, कुछ भी सच्चा नहीं होता। कोई ऐसा माने कि मैं दूसरों को तार दूँ, मैं दूसरों को मुक्त कर दूँ—तो कहते हैं कि भैया! तू स्वयं ही मिथ्यात्व के बंधन में पड़ा हुआ है। जैसे जगत का कर्ता कोई ईश्वर नहीं है, वैसे ही आत्मा भी जगत के किन्हीं भी पदार्थों का कर्ता नहीं है। सम्यक् दृष्टि अपने आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभवता है, उसमें राग के एक अंश का भी अस्तित्व नहीं है, वहाँ परवस्तु की तो बात ही क्या?

आकाश कुसुम तोड़ने की कोई चेष्टा करे तो वह व्यर्थ है, क्योंकि उसका अभाव ही है; उसी तरह परवस्तु का आत्मा में अभाव है, तो भी उसके कार्य करने की चेष्टा (अभिप्राय) यदि कोई करे तो निरर्थक है अर्थात् मिथ्या है। ऐसा मिथ्यापन हो, वहाँ साधुपन का आचरण नहीं होता एवं सम्यक्त्व भी नहीं होता। चैतन्य की समझ द्वारा जिसने ऐसा मिथ्यात्व नष्ट करके सम्यक्त्व प्रगट किया है, उसी का ज्ञान सच्चा और उसी का आचरण सच्चा है। ऐसा सच्चा ज्ञान प्रगट करे, तब भावमरण टले और सच्चा जीवन अर्थात् अतीन्द्रिय आनंददशा प्रगट हो।

मुनिदशा तो महा पूज्य परमेष्ठी पद है। वह मुनिदशा बिना सम्यग्दर्शन के नहीं होती। पर को मैं मारूँ पर को मैं जीवित रखूँ, पर मुझे मारे या जीवित रखे—ऐसा मिथ्या अध्यवसाय मुनियों को स्वप्न में भी नहीं होता। अभी तो जहाँ पर के कर्तृत्व की मिथ्याबुद्धि है और जहाँ राग से धर्म होने का माननेरूप मिथ्याबुद्धि है, वहाँ तो सम्यक्त्व ही नहीं है, तो मुनिदशा कैसी? वहाँ तो ज्ञान व चारित्र कुछ भी सच्चा नहीं।

सच्चा ज्ञान और चारित्र क्या है! उसकी लोगों को खबर नहीं है। अंतर के चैतन्य में एकाग्र होने पर एक सूक्ष्म विकल्प भी अपना नहीं भासता—ऐसे शुद्ध चैतन्य के अनुभवयुक्त ज्ञान, वही सच्चा ज्ञान है, और ऐसे ज्ञानपूर्वक आनंद में एकाग्रता, वही सच्चा आचरण है। राग और बाह्यक्रिया, वह धर्मी को निजरूप नहीं भासती। जिससे जन्म-मरण का अंत न आये, ऐसे ज्ञान को ज्ञान कौन कहे?—ऐसे आचरण को आचरण कौन कहे? बिना सम्यक्त्व के शुभरागरूप आचरण भी अनंत बार जीव कर चुका, परंतु जन्म-मरण से छुटकारा नहीं हुआ; भगवान उसके शुभाचरण को सच्चा आचरण नहीं कहते हैं।

प्रश्नः—पंचम काल में ऐसा ज्ञान और आचरण हो सकता है?

उत्तरः—हाँ, ज्ञान और आचरण का स्वरूप तीनों काल ऐसा ही है। पंचम काल में

कहीं उसका स्वरूप दूसरा नहीं हो जाता। देखो, विदेहक्षेत्र में अभी अनेक मुनि ऐसे ज्ञान-आचरण सहित विचरते हैं, उसमें से छट्ठे गुणस्थानवर्ती किसी मुनि को हरण करके कोई इस भरतक्षेत्र में रख जाये, तो भरतक्षेत्र और पंचम काल होने पर भी विदेह के वे मुनि यहीं क्षपकश्रेणी लगाकर केवलज्ञान पा सकते हैं। उन्हें यह क्षेत्र और काल बाधक नहीं होते। जीव अपने बंध-मोक्ष को स्वाधीनरूप से अकेला करता है। जीव का कार्यक्षेत्र स्व में है, बाह्य में उसका कार्यक्षेत्र तनिक भी नहीं है। इस तरह परद्रव्य से अत्यन्त भिन्नता समझकर अपने निजस्वरूप को सँभालना ही भावमरण से छूटने का व परम आनंद की प्राप्ति का उपाय है।

आत्मा का उल्लास

आत्मा में सिद्धपना स्थापित करके आचार्यदेव शुद्धात्मा का स्वरूप बतलाते हुए सर्वप्रथम भारपूर्वक निडरता से कहते हैं कि—विकल्प से पार होकर शुद्धात्मा को उत्साहपूर्वक स्वीकार कर ले, इतनी शक्ति तो श्रोता में है ही; ऐसा श्रोता आत्म के उल्लास से तुरंत ही आत्मा आत्मा का अनुभव प्रगट कर लेता है। ऐसे श्रोता को हम यह समयसार सुनाते हैं। जिसप्रकार युद्ध में गये हुए राजपूत की वीरता छिपी नहीं रह सकती; उसीप्रकार चैतन्य की साधना के लिये जो मुमुक्षु जागृत हुआ, उसके आत्मा का उत्साह छिपा हुआ नहीं रह सकता... आत्मा के उल्लास से वह आनंद की साधना करता है।

सर्वज्ञदेव का देखा हुआ वस्तुस्वरूप

सत्‌रूप द्रव्य के लक्षण का तीन प्रकार से कथन

[पंचास्तिकाय गाथा ८ से ११ के प्रवचनों में से]

वस्तुस्वरूप को स्पष्टरूप से समझानेवाले इस लेख में सर्वज्ञ वीतराग और दिगंबर संतों द्वारा कथित ऐसे सत् का स्वरूप समझने पर अपनी पर्याय के लिये पर के सामने देखना नहीं रहता; पर से भिन्न अपने द्रव्य में सन्मुखता होती है। इसप्रकार सत् के ज्ञान द्वारा पराश्रय की श्रद्धा छूटकर निर्मल भेदज्ञान होता है; मोक्षमार्ग प्रगट होता है। अहो! सर्वज्ञदेव का कहा हुआ तत्त्वज्ञान अपूर्व भेदज्ञान सहित स्वसन्मुखता और वीतरागता कराता है। इस लेख का पूर्वार्द्ध आत्मधर्म अंक २९९ में प्रकाशित हो चुका है। शेष यहाँ दिया जाता है।

नित्य-अनित्यस्वरूप जो सत्‌वस्तु, उसका अस्तित्व आठवीं गाथा में बतलाया; अब अस्ति-नास्तिरूप जो द्रव्य हैं, उनका स्वरूप कैसा है, वह बतलाते हैं। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप जो सत् द्रव्य है, वह द्रव्य अपनी सद्‌भाव पर्याय को स्वयं ही द्रवता है, स्वयमेव निजभाव में-निजरूप में द्रवित-प्रवाहित होकर उसरूप परिणमित होता है। अपनी सुख या दुःख पर्यायरूप से जीव अर्थात् आत्मद्रव्य स्वयं परिणमित होता है। ऐसा नहीं है कि सामने अनुकूल-प्रतिकूल सामग्री के कारण से सुख-दुःख हुआ। क्योंकि दुःखरूप पर्याय को कहीं परद्रव्य द्रवित नहीं कर सकता। किंतु आत्मद्रव्य स्वयं अपनी उस समय की योग्यता के अनुसार उस पर्याय को द्रवित करता है। सुखपर्याय, ज्ञानपर्याय, श्रद्धादि अनंत गुणों की पर्याय को आत्मा स्वयं द्रवित करता है। सुखपर्याय, ज्ञानपर्याय, श्रद्धा अनंत गुणों की पर्याय को आत्मा स्वयं द्रवित करता है। आत्मा के गुण-पर्याय का अस्तित्व किसी अन्य के कारण से नहीं है।

जिसप्रकार विद्यमान वस्तु अपने से ही सत् है, उसका सत्‌पना-अस्तित्व अन्य के कारण नहीं है, प्रत्येक द्रव्य के गुण-पर्यायें भी अपने से ही हैं, कारण कि स्वयं सदा अपने गुण-पर्यायरूप है और उत्पाद-व्यय-ध्रुव भी अपने से हैं, क्योंकि सत् स्वयं उत्पाद-व्यय-

ध्रुवरूप है। इसप्रकार प्रत्येक वस्तुस्वभाव से ही गुणपर्यायरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप और सत्स्वरूप है। सदा यह तीन लक्षण प्रत्येक द्रव्य में पाये जाते हैं।

जिसने ऐसा मान लिया कि—दु:ख पर से हुआ है, तो उसने अपना सत्पना अपने से नहीं माना और न अपनी उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप स्वाधीन सत्ता को स्वीकार किया।

अज्ञानदशा कैसे गई ? त्रैकालिक पूर्ण ज्ञानस्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्ज्ञानदशा उत्पन्न हुई, उसी समय मिथ्यात्व-अज्ञानदशा का नाश हुआ, अथवा अल्प ज्ञानी को श्रुतज्ञान पलटकर केवलज्ञान पर्याय उत्पन्न हुई, वह उत्पत्ति किसकी सत्ता में हुई ? जीव की सत्ता में जीव के द्वारा हुई या वज्रकाय आदि संयोग के कारण हुई ? बाह्य सामग्री तो निमित्तमात्र है, अत: वज्रकाय आदि से वह उत्पाद नहीं है।

इसप्रकार सर्वत्र अपना सत्पना अपने से है और पर का सत्पना पर से है। ऐसा स्वाश्रय दृष्टि के बल द्वारा जाने तो सत् के ज्ञान द्वारा पराश्रय की बुद्धि का नाश और उसी समय भेदविज्ञान होता है और मोक्षमार्ग प्रगट होता है।

सर्वज्ञदेव के देखे हुए विश्व के सत्स्वरूप का यह कथन है। तीन प्रकार के लक्षण द्वारा वह जाना जाता है:—

(१) सत् लक्षण के द्वारा द्रव्य की पहचान होती है।

(२) उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षण के द्वारा द्रव्य की पहचान होती है।

(३) गुण-पर्यायरूप लक्षण के द्वारा भी द्रव्य की पहचान होती है।

जगत की जड़ या चेतन किसी भी वस्तु में ये तीनों लक्षण होते ही हैं। विश्व में जाति अपेक्षा छह द्रव्य हैं और अपने उन-उन लक्षणों द्वारा ही वे द्रव्य लक्षित होते हैं। एक के अस्तित्व द्वारा दूसरे का अस्तित्व लक्षित नहीं होता; एक द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्वारा अथवा गुण-पर्यायों के द्वारा दूसरा द्रव्य लक्षित नहीं होता, किंतु अपने ही गुण-पर्यायों द्वारा वह द्रव्य लक्षित होता है।

जैसे जीव की दशा में दया का भाव उत्पन्न हुआ तो वह दयावान जीव का अस्तित्व लक्षित कराता है किंतु अन्य का नहीं। एक पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव से वही द्रव्य लक्षित होता है, न कि दूसरा। प्रत्येक द्रव्य के उत्पादादि और गुण-पर्यायें अपने-अपने में ही हैं और उनसे वह द्रव्य अभिन्न है।

सम्यग्दर्शनादि धर्मपर्याय उत्पन्न हुई, यह जीवद्रव्य को लक्षित कराती है, किंतु वाणी आदि निमित्तों को लक्षित नहीं कराती। वाणी-पर्याय के द्वारा उसके पुद्गल परमाणु से लक्षित हैं, जीवद्रव्य उससे लक्षित नहीं होता।

वस्तु का अपना जो लक्षण हो, अथवा वस्तु के जो धर्म हों, वे अपने में ही होते हैं, अपने से भिन्न नहीं होते।

अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से द्रव्य भिन्न नहीं है, स्वभाव से ही उसके उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों एक ही साथ वर्तते हैं, ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप द्रव्य है।

अपने गुण-पर्यायों से द्रव्य भिन्न नहीं है; गुण-पर्यायों का आधार वही द्रव्य है।

अपनी सत्ता से द्रव्य भिन्न नहीं है।

इसप्रकार प्रत्येक द्रव्य अपने स्वलक्षण के द्वारा ही लक्षित होता है, पर से उसको भिन्नत्व है।

सर्वज्ञदेव ने विश्व के प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप ऐसा देखा है; वह सर्वज्ञ के सिवा किसी अन्यमत में यथार्थ नहीं होता। छह द्रव्यों में कालद्रव्य असंख्य हैं, जो कायवान नहीं हैं किंतु शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय हैं।

(१) अनेकांतस्वरूप वस्तु में अनंत धर्म हैं, उनमें से 'सत्ता' भी एक धर्म है; वह द्रव्य का स्वरूप है; और सत्ता लक्षण द्वारा द्रव्य के अस्तित्व की पहचान होती है। सत्ता और द्रव्य अभिन्न होने पर भी उनमें लक्ष्य-लक्षणपना है।

(२) द्रव्य का दूसरा लक्षण है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य। जीव जीव है, अजीव अजीव ही है। इसप्रकार अपनी जाति को न छोड़ते हुए जो क्रमरूप भावों का प्रवाह चलता है, उसमें नये-नये भाव की उत्पत्ति, वह उत्पाद है; उसी क्षण पूर्व के भाव का विनाश, सो व्यय है, और स्वजातिरूप वस्तु का सदा एकरूप बने रहना, वह ध्रुव है। इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य का ही स्वरूप है।

भाषा के उत्पाद द्वारा पुद्गलद्रव्य लक्षित होता है, वह पुद्गल की स्वजाति है। भाषा का प्रगट होना पुद्गल के अस्तित्व में है, जीव में नहीं! ज्ञान-पर्याय का उत्पाद जीव का भाव है, उसके द्वारा जीव का अस्तित्व लक्षित होता है। जीव की पर्यायों का प्रवाह ज्ञानमय ही होता है। ऐसा नहीं है कि जीव में एक पर्याय ज्ञानरूप हो और दूसरी पर्याय जड़रूप हो; पुद्गल की सभी

पर्यायें जड़रूप होती हैं। इसप्रकार पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपनी स्वजाति को कभी छोड़ते नहीं; जड़-चेतन एक-दूसरे में एकमेक नहीं हो जाते, ऐसा सत् स्वभाव है। जीव तीनों काल जीव और अजीव तीनों काल अजीव ही रहता है। जीव या अजीव सभी अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव में ही वर्तते हैं। प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुव से तीनों काल अभिन्न है। प्रत्येक वस्तु में एक समय में उत्पाद-व्यय-ध्रुव का एक साथ होना, यह बात सर्वज्ञ के सिवा किसी के मत में नहीं है। प्रत्येक द्रव्य में संख्या अपेक्षा अनंत गुण (शक्ति) तीनों काल हैं। एक समय में अनंत गुण की अनंत उत्पाद-व्ययरूप पर्यायें होती ही हैं; इसप्रकार तीनों काल ऐसी स्वतंत्र व्यवस्था प्रत्येक वस्तु के स्वभाव से ही है। ऐसा नहीं है कि अन्य के स्वभाव या कारण से वस्तु ऐसी है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव द्रव्य का लक्षण है, वह दूसरों के द्वारा दिया नहीं जाता, विश्व की वस्तुएँ ही स्वयंसिद्ध ऐसे स्वभाववाली हैं।

उत्पाद-व्यय होने पर भी वस्तु में स्वजाति का त्याग नहीं है, स्वजाति के अत्याग का नाम ध्रुवता है। जीव में मतिज्ञानादि पर्यायों का व्यय होने पर भी जीव अपनी चेतनजाति को छोड़ता नहीं है; प्रतिसमय नयी-नयी पर्याय उत्पन्न होती ही है, वह भी अपनी चेतनजाति को छोड़े बिना ही उत्पन्न होती है। और चेतनत्व एकरूप नित्य बना ही रहता है, वह ध्रुव है। उसीप्रकार छहों द्रव्यों में अपनी-अपनी जाति का अचलपना-अत्याग है। मूल द्रव्य तो कभी बदलता नहीं है किंतु उसकी पर्याय भी अपनी जातिरूप ही बदलती है, ऐसा नहीं होता कि जीव की पर्याय कभी अजीव हो जाये।

जैसे सम्यग्दर्शन पर्याय नई प्रगट हुई, उसी समय मिथ्यात्व पर्याय का व्यय-(त्याग) हुआ तो भी जीव नया नहीं उत्पन्न हुआ। मिथ्यात्व-अज्ञानरूप अवस्था हो या सम्यग्दर्शन-ज्ञान की अवस्थारूप हो, जीव तो दोनों अवस्थाओं में चैतन्यपने के कारण जीवत्वरूप बना ही रहता है; उसीप्रकार पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में पुद्गलद्रव्य पुद्गलपन से ध्रुव बना रहता है, कोई जीव देवपर्याय में से मनुष्य हुआ, या मनुष्य में से देव हुआ, फिर भी चेतनरूप जीव वह तो चेतनरूप ही रहा है।

उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप जो लक्षण हैं, वे तीनों युगपत वर्तते हैं और द्रव्य के स्वभावभूत हैं। द्रव्य स्वयं ही ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वभाववान है। ये उत्पाद-व्यय-ध्रुव सामान्य आदेश

से द्रव्य से अभिन्न हैं और विशेष आदेश से वे द्रव्य से भिन्न हैं क्योंकि उत्पाद-व्यय और ध्रुव वे प्रत्येक एक-एक अंश की अपेक्षा से हैं।

—ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप लक्षण द्वारा स्वरूप जाना जाता है, उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों के बीच समयभेद नहीं है, द्रव्य में एक समय में तीनों एकसाथ वर्तते हैं।

(३) तीसरे प्रकार से द्रव्य का लक्षण 'गुण-पर्याय' है। गुणपर्यायवत् द्रव्य है। गुण अर्थात् अन्वयरूप विशेषों; एकरूप रहनेवाले सहभावी विशेष; और पर्याय अर्थात् व्यतिरेकरूप विशेषों; बदलनेवाले क्रमभावी विशेष।

ऐसे गुण द्रव्य में एकसाथ नित्य वर्तते हैं और गुणों की पर्यायें क्रमशः वर्तती हैं। ये गुण-पर्याय द्रव्य से कथंचित् भिन्न हैं, कथंचित् अभिन्न हैं, स्वभावभूत हैं, ऐसा द्रव्य का स्वरूप है।

१- सत्द्रव्य लक्षणम्। २- उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। ३- गुणपर्ययवत् द्रव्यम् ये तीन सूत्र तत्त्वार्थसूत्र में हैं।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य के शास्त्रों में इन सभी की जड़ हैं। उन्होंने वस्तुस्वरूप का अलौकिक वर्णन किया है। तत्त्वार्थसूत्र अर्थात् मोक्षशास्त्र कुन्दकुन्दाचार्य के शिष्य उमास्वामी (उमास्वाति) ने बनाया है।

आत्मा के उत्पाद-व्यय-ध्रुव आत्मा (जीव) के स्वभावभूत हैं, फिर रागपर्याय हो या वीतरागीपर्याय हो, किंतु जीव की वह पर्याय पर से तो भिन्न है और जीव से अभिन्न है, इसप्रकार स्व-पर द्रव्य के विभाग करने से ही स्वतंत्र सत् का स्वीकार होता है। ऐसे भेदज्ञान के फल में वीतरागता आती है, वह समझाया जा रहा है।

वस्तु का अस्तित्व तीन लक्षण से बतलाया, तीनों लक्षण एक ही साथ हैं। एक लक्षण कहने पर शेष दो लक्षण भी उसमें आ जाते हैं।

(१) जो सत् हो, वह उत्पाद-व्यय-ध्रुवमय और गुणपर्यायमय होता है;

(२) जो उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप हो, वह सत् और गुणपर्यायवान होता है;

(३) जो गुणपर्यायवान हो, वह सत् और उत्पाद-व्यय-ध्रुववाला होता है।

ऐसे ही लक्षणवाला वस्तु का स्वरूप है। यदि ऐसा न हो तो वस्तु ही नहीं हो सकती। यह समझाते हैं:—

सत् द्रव्यलक्षणम्

यदि वस्तु में सत्पना न हो तो उत्पाद-व्यय-ध्रुवत्व या गुण-पर्याय कहाँ रहें ? सत् वस्तु नित्य-अनित्यरूप होती है; उसमें नित्यता कहने पर ध्रौव्य ज्ञात होता है और अनित्यता कहने पर उत्पाद-व्यय ज्ञात होता है; इसप्रकार सत् को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व भी है। उन तीन में ध्रुव कहने पर गुणों और उत्पाद-व्यय कहने पर पर्यायों के साथ वस्तु का एकत्व दर्शाते हैं, अर्थात् वस्तु को गुण-पर्यायवान प्रसिद्ध करते हैं। इसप्रकार 'सत्' कहने पर तीनों लक्षण एकसाथ ज्ञात होते हैं। 'सत्' को अपने ही गुण-पर्यायों के साथ एकत्व है, किंतु अन्य के गुण-पर्यायों के साथ एकत्व नहीं है, वस्तु के उत्पाद-व्यय-ध्रुव अपनी विद्यमानता को सूचित करते हैं, पर को नहीं। स्वरूप से एकत्व और पररूप से प्रथक्त्व समझकर ऐसे भेदविज्ञान द्वारा स्वसन्मुख होना, वह तात्पर्य है।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्

अब जिसप्रकार द्रव्य को 'सत्' कहने पर शेष दो लक्षण भी उसमें आ जाते हैं, उसीप्रकार द्रव्य को उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षणवान कहने पर उसमें शेष दो लक्षण आ जाते हैं। ध्रुवत्व कहने पर नित्यता और उत्पाद-व्यय कहने पर अनित्यता आती है; इसप्रकार नित्य अनित्यस्वरूप पारमार्थिक सत् ज्ञात होता है।

ध्रुवत्व गुणांश अपेक्षा से है और उत्पाद-व्यय पर्याय-अपेक्षा से है; इसप्रकार उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु में गुण-पर्यायें भी प्रसिद्ध होती हैं। गुण-पर्याय द्वारा ही उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु का स्वरूप पहचाना जाता है, इसलिए गुण-पर्याय वस्तु के स्वरूप की प्राप्ति में कारणभूत हैं। गुण के द्वारा ध्रुवत्व की प्राप्ति है और पर्यायों के द्वारा उत्पाद-व्यय की प्राप्ति है। वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रुववान कहने पर वह गुण-पर्यायवान है, ऐसा आ ही जाता है। गुण-पर्यायवान के बिना उत्पाद-व्यय-ध्रुव सिद्ध नहीं हो सकते।

गुण-पर्ययवत् द्रव्यम्

अब, जिसप्रकार सत् कहने पर शेष दो लक्षण भी आ जाते हैं और उत्पाद-व्यय कहने

पर भी शेष दो लक्षण भी आ जाते हैं, उसीप्रकार गुण-पर्यायवान कहने पर उसमें भी शेष दो लक्षण (सत्पना और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) भी आ जाते हैं। वस्तु में अन्वयरूप गुण ध्रुवत्व को सूचित करते हैं और व्यतिरेकरूप पर्यायें उत्पाद-व्यय को सूचित करती हैं। इसप्रकार गुण-पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूप वस्तु को बतलाते हैं। ध्रुवत्व बिना गुण नहीं होते और उत्पाद-व्यय बिना पर्यायें नहीं होती।

तथा गुण-पर्यायों में गुण तो नित्यस्थायी है और पर्यायें निरंतर प्रतिक्षण उत्पत्ति-विनाशरूप अनित्य हैं; इसप्रकार नित्य-अनित्यरूप सत् वस्तु को गुण-पर्यायें प्रसिद्ध करती हैं।

इसप्रकार वस्तु में तीनों लक्षण सदा एकसाथ ही हैं—सत्पना, उत्पाद-व्यय-ध्रुवपना और गुण-पर्यायपना। तीन में से किसी के द्वारा वस्तु को लक्ष में लेने पर तीन प्रकार के लक्षण उसमें आ ही जाते हैं; ऐसा ही वस्तुस्वरूप है। अहो, अलौकिक वस्तुस्वरूप सर्वज्ञदेव ने जैनशासन में प्रकाशित किया है।

वस्तु अर्थात् द्रव्य का लक्षण 'सत्' यह कथन प्रमाणज्ञान अपेक्षा से कहा है कारण कि प्रत्येक वस्तु सदा सामान्य-विशेषरूप अर्थात् नित्य-अनित्यरूप है। प्रमाणज्ञान अपेक्षा वस्तु के सर्वांश का एकसाथ ग्रहण हो जाता है, उसमें कोई अंश गौण या मुख्य नहीं होता।

उत्पाद-व्यय-ध्रुव को द्रव्य का लक्षण कहा; वह लक्षण दो नयों का द्वारा विभक्त करके कहते हैं कि—ध्रुवपना द्रव्यार्थिकनय से है और उत्पाद-व्यय-पर्यायार्थिकनय से है। द्रव्य को उत्पाद-व्ययरहित कहना, और उसी को उत्पाद-व्ययवान कहना—उसमें क्या विरोध है? ना; यह सब निरवद्य है, निर्बाध है, क्योंकि द्रव्य और पर्यायों का अभिन्नपना है, इसलिए एक ही वस्तु में दो नयों के द्वारा निरूपण है और वह दोनों प्रकार सुसंगत हैं, उसमें कोई विरोध नहीं है। वस्तु की सहवर्ती पर्यायों अर्थात् सहवर्ती अंशों को गुण कहते हैं; गुण नित्य अवस्थित होने से गुण की अपेक्षा द्रव्य का ध्रुवत्व है। अनादि-अनंत सत् ऐसा द्रव्य, उसको (द्रव्य सामान्य को) उत्पत्ति या विनाश नहीं है और उसी समय प्रतिसमय क्रमवर्ती पर्यायों की अपेक्षा वस्तु में उत्पाद-व्यय है। उत्पाद-व्यय और ध्रुव पर्यायों को (भेदों के) हैं, और उन सभी पर्यायों को द्रव्य से अभिन्नत्व है, इसलिए द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रुव लक्षणवान है।

द्रव्य कभी भी पर्यायरहित होता ही नहीं; पर्यायें कभी भी द्रव्य के बिना नहीं होती, द्रव्य

और पर्याय दोनों एक अस्तित्व में ही विद्यमान हैं; इसलिये वस्तुरूप से उनमें अभेदता है। ऐसा अस्तित्व वह वस्तु का स्वभाव है।

द्रव्य कभी पर्यायरहित होता ही नहीं, ऐसा सत् का स्वरूप है, तो फिर द्रव्य की पर्याय दूसरे के कारण हो, यह बात ही कहाँ रही ? अथवा निमित्त न आवे तो पर्याय नहीं होती, यह बात कहाँ रही ? द्रव्य सत् है और वह अपनी पर्यायों सहित ही होता है, पर्याय के बिना द्रव्य होता ही नहीं। उसीप्रकार पर्यायें कभी भी द्रव्य के बिना नहीं। पर्याय 'द्रव्य के बिना नहीं होती'—ऐसा नियम कहा किंतु पर्याय 'निमित्त बिना न होय'—ऐसा नहीं कहा है। अपनी पर्याय के लिये पर के सामने देखना न रहा, पर से भिन्न स्वद्रव्य को देखना रहा। अहो, सर्वज्ञदेव का कहा हुआ तत्त्वज्ञान अपूर्व भेदज्ञानसहित स्वसन्मुखता और वीतरागता कराता है।

जैनसिद्धांत के पंचशील

(१) आत्मा उपयोगस्व्यप है, वह उपयोगरूप ही रहकर परभावरूप न हो, सो धर्म है।

(२) उपयोगस्वरूप आत्मा स्वतत्त्व से भिन्न अन्य किसी भी जड़ या चेतन के किसी भी कार्य को नहीं कर सकता।

(३) उपयोगस्वरूप आत्मा अपनी शुद्धता को भूलकर, पुण्य या पापरूप अपने को मानकर उन परभावों का कर्ता बनता है, जो अज्ञान-अधर्म है।

(४) ज्ञानी स्वयं को पर से भिन्न, पुण्य-पाप से भिन्न मानकर नित्य उपयोगस्वरूप अनुभव करता है किंतु वह परद्रव्य-परभावों का कर्ता नहीं होता, और न उन परभावों (रूप) होता है। अज्ञानी स्वयं को परद्रव्य-परभावों का कर्ता मानकर उसी में मग्न रहता है।

(५) ऐसा जानकर हे जीव! तू अज्ञान-अधर्म से छूटने के लिये परद्रव्य-परभावों को अपने उपयोगस्वरूप चैतन्य से भिन्न जानकर पर का कर्तृत्व छोड़ और उपयोगस्वरूप आत्मा को पहचानकर उसी में तन्मय हो।

यह हैं वीतरागी जैन सिद्धान्त

जो बंध का कारण समझाकर उससे छुड़ाते हैं, और मोक्ष का कारण बतलाकर वह प्रगट कराते हैं।

- ✯ आत्मा उपयोगस्वरूप है, उपयोग में एकत्वरूप अनुभव, सुख है; और वह मोक्ष का कारण है।
- ✯ उपयोग को भूलकर रागादि परभावों में एकत्व का अनुभव, दु:ख है; और वह संसार का कारण है।
- ✯ बाह्य सामग्री कोई अनुकूल-प्रतिकूल नहीं है, संयोग सुख-दु:ख का कारण नहीं हैं। अपने अज्ञानभाव से ही जीव दु:खी होता है, और अपने वीतरागभाव से ही जीव स्वयं सुखी होता है।
- ✯ बाह्य जितने भी संयोग हैं, उसमें इष्ट-अनिष्ट माननेवाले अपने को भूल गये हैं—पुण्य पाप-संयोग हैं, उन्हें दूसरा कोई जीव तुझे दे सकता नहीं, जीव ने स्वयं ने पूर्व से किये हुए शुभाशुभ कर्मों के उदयानुसार ही वे संयोग मिलते हैं।
- ✯ एक जीव ऐसा मानता है कि मैं अन्य जीव को अमुक संयोग देकर उसे सुखी या दु:खी कर दूँ - तो ऐसा माननेवाला अज्ञानी है। पर जीव को सुखी-दु:खी करने के जो शुभाशुभभाव, वह मिथ्यात्व नहीं है। किंतु मैं पर का कुछ कर सकता हूँ, शुभाशुभराग मुझे करना चाहिये, मेरा यह कार्य है - ऐसी शुभाशुभभावों के साथ एकत्वबुद्धि है, वह मिथ्यात्व है, अज्ञान है, बंध का कारण है - संसार का मूल है।
- ✯ शुभाशुभराग-मिथ्यात्व नहीं है किंतु पराश्रयरूप जितना भी व्यवहार है, उसके आश्रय से लाभ मानना मिथ्यात्व है।
- ✯ परजीवों का जीवन-मरण उनकी आयु के अनुसार होता है; फिर भी मैंने उनका जीवन मरण किया अथवा मेरे जीवन-मरण को दूसरे ने किया, ऐसा अज्ञानी मानते हैं।
- ✯ पर को मारने-जिलाने, सुखी-दु:खी करनेरूप कार्य कोई जीव कर ही नहीं सकता,

किन्तु मैं उसको मारूँ—जिलाऊँ, सुखी-दु:खी करूँ—ऐसे जो पाप या पुण्य के परिणाम है, उन परिणाम के साथ उपयोग को एकमेक मानकर अज्ञानी उपयोग को मलिन करता है। मलिन उपयोगरूप अध्यवसाय ही बंधन का कारण है।

- ✯ उपयोग जीव का निर्दोष वीतरागस्वभाव है; उसमें पुण्य का कर्तृत्व माने या पाप का कर्तृत्व माने, दोनों में मिथ्यात्व ही हैं, जो बंध का ही कारण है—संसार का ही कारण है।
- ✯ पुण्य-पाप दोनों से भिन्न जो शुद्ध उपयोग, वही मोक्ष का कारण है।
- ✯ पुण्य या पाप दोनों भाव परद्रव्य के आश्रय से उत्पन्न होते हैं, अत: वे सर्व पराश्रितभाव छोड़ने योग्य हैं; स्वाश्रित ऐसा शुद्धरत्नत्रयभाव मोक्षमार्ग है, वही प्रगट करने के लिए उपादेय है-आदरणीय है।
- ✯ जितने भी व्यवहार भाव हैं, वे सभी परद्रव्य का अवलम्बन करने से होते हैं—पराश्रितभाव हैं; निश्चयरूप मोक्षमार्ग तो शुद्ध स्वद्रव्य के ही आश्रय से होता है, उसमें परद्रव्य का जरा भी आश्रय नहीं है।
- ✯ जीव का मोक्ष स्वभाव है, बंधन की योग्यता पर्याय में है। पुद्गल का 'बंध' स्वभाव है, मुक्त होने की योग्यता पर्याय में है।
- ✯ हे भाई! पर को सुखी-दु:खी करने की, मारने की, जिलाने की मिथ्याबुद्धि तो छोड़ और पर से मुझे सुख-दु:ख, बंध-मोक्ष आदि होते हैं, ऐसी मिथ्याबुद्धि छोड़; शुभाशुभ सर्व प्रकार के रागादि भावों के साथ ज्ञान की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व को छोड़कर, जो शुद्ध उपयोगमय आनन्दमय चैतन्य भूमि, उसमें ही तन्मय होकर आत्मा को अनुभव में लेना; वही मोक्ष का कारण है। *(समयसार-बंध अधिकार)*

- ❀ मिथ्यात्वी जीव बाह्य में द्रव्यलिंग धारण करे, दस गुणोंरूप दस प्रकार के पवित्र धर्म का आचरण करे, निर्दोष ऐसा आहार भिक्षा से विधि सहित ले, चित को रोककर योग धारण करे फिर भी उसकी मुक्ति नहीं होती। १४२
- ❀ मिथ्यात्व के वश हुआ जीव चार प्रकार का दान दे, भक्ति करे, अति भक्ति से अरहन्त भगवान की पूजा करे, पवित्र शील का सेवन करे, भोजन न करके क्षाम शरीरी हो जाये फिर भी सर्वज्ञ वीतराग कथित सिद्धि को प्राप्त नहीं होता। १४३

(अमितगति आचार्यकृत सुभाशित०)

आत्महितरूप कार्यों में सम्यक् पुरुषार्थ प्रथम कर्तव्य है।

तत्त्वार्थ राजवार्तिक अध्याय १ में सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम्।

इन सम्यग्दर्शनादि तीनों में से पूर्व अर्थात् सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान का लाभ होने पर सम्यक्चारित्र भजनीय है।

इससे विदित होता है कि सम्यग्दर्शन के साथ होनेवाला ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है और इन दोनों के होने पर जो आत्मस्थितिरूप चारित्र होता है, वही सम्यक्चारित्र है। ये तीनों ही आत्मा की स्वभावपर्याय हैं, अथवा इन तीनमय स्वयं आत्मा है।

ऐसे सम्यक्चारित्र धर्म का और उसके साथ होनेवाली तद्भूमिकानुकूल बाह्य प्रवृत्ति का हमने या किसी ज्ञानी ने कभी और कहीं निषेध नहीं किया है। आत्मा के निज वैभव को प्रकाशित करनेवाले अध्यात्म का जहाँ भी उपदेश दिया जाता है, वहाँ यही कहा जाता है कि जो केवल 'मैं शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, नित्य हूँ' ऐसे विकल्प में मग्न होकर तत् स्वरूप आत्मा को नहीं अनुभवता, वह तो आत्मा से दूर है ही; साथ ही जो विकल्प और शरीर के आधीन क्रियाधर्म के आलंबन द्वारा मोक्षमार्ग की प्राप्ति मानता है, वह आत्मा से और भी दूर है। अतएव बाह्य क्रियाधर्म में आत्महित है, इस व्यामोह को छोड़कर प्रत्येक भव्य जीव को आत्महित-प्राप्ति के मार्ग में ही लगना चाहिये। हाँ, यह हम मानते हैं कि निचली दशा में ज्ञानी के क्रियाधर्म सर्वथा छूट नहीं जाता, क्योंकि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद भी राग से युक्त चारित्र में राग से अनुरंजित बुद्धिपूर्वक उपयोग के काल में क्रियाधर्म तो होता ही है, उसका निषेध नहीं (पराश्रयरूप व्यवहार आता है किंतु उसके आलंबन से वीतरागधर्म मानने का निषेध है। श्रद्धा में किसी भी राग को हितरूप-भला या कर्तव्य नहीं मानता किंतु वीतराग समाधि को ही हितरूप मानता है।)

सम्यक् नियति का अर्थ ऐसा नहीं है कि किसी एक कार्य के लिये आगम में स्वीकार किया हो और दूसरे के लिये निषेध हो, साथ ही कोई एक कार्य तो पुरुषार्थ पूर्वक हो दूसरा बिना पुरुषार्थ के हो जाता है, ऐसा नहीं है। किसी को नियति से, किसी को पुरुषार्थ से देव से या

कर्म से कार्य हुआ, ऐसा कथन जिनागम में नहीं है। इनका **'गौण मुख्यपना विवक्षा में हो सकता है कार्य में नहीं।'**

(निमित्त चाहिये; व्यवहार चाहिये इसप्रकार संयोग की-आस्रवतत्त्व की भावना को आचार्य ने आत्मतिरस्कारी कहा है।) हाँ, जो भी कार्य होता है, उसका कोई निमित्त न हो, यह भी नहीं है, 'उपादान निश्चय जहाँ तहँ निमित्त पर होय; भेदज्ञान परवान विधि विरला बूझे कोई'

(एकांत अर्थात् एकांश को सर्वांश मानकर सप्रतिपक्ष (दूसरा अंश का) सर्वथा निषेध का नाम एकांत है।)

एकांत के प्रति आग्रहवान् व्यक्ति ही ऐसी कल्पना कर सकता है कि अमुक कार्य मात्र पुरुषार्थ से होता है, अमुक कार्य मात्र नियति के अनुसार अपने आप हो जाता है और अमुक कार्य मात्र निमित्त के बल से होता है। जिन्होंने अपने जीवन में सर्वज्ञस्वभाव के निर्णय सहित अनेकांतस्वरूप आत्मधर्म का रसास्वाद लिया है, वे त्रिकाल में ऐसी मिथ्या कल्पना नहीं कर सकते। कार्य में पुरुषार्थ, नियति, निमित्त आदि सबका समवाय है—ऐसा निश्चय जिनके चित्त में हैं, वे ही मोक्षमार्ग के पथिक बनने के अधिकारी हैं। अतएवं जैसे आत्म-विवेक को जागृत करने के लिये भी निरालस भाव से आत्म पुरुषार्थी होना आवश्यक है। सब आत्मकार्यों के संपादन में (सर्वज्ञ वीतराग कथित) पुरुषार्थ प्रथम कर्तव्य है। (परद्रव्य का तो कोई भी कुछ भी कर सकते नहीं, जीव अपने में सम्यक् या मिथ्याभाव कर सकते हैं।)

(जयपुर (खानिया)तत्त्वचर्चा के आधार से)

* कालकूट विष का भक्षण, पशुवत वन में प्रतिकूलता में निवास, अग्नि की ज्वाला में प्रवेश भी अच्छा है किंतु मिथ्यात्वयुक्त जीवन अच्छा नहीं है। (मिथ्यात्व-अपने असली स्वरूप को भूलना और पर को अपना मानना।)

आत्मा का वास्तविक स्वरूप किसप्रकार पहिचाना जा सकता है?

आत्मा का यथार्थ स्वरूप कैसा ? इसकी पहिचान जीव ने कभी नहीं की। सच्चा आत्मा अर्थात् आनंदस्वभाव से परिपूर्ण भूतार्थ आत्मा, उसको अंतर्मुख अनुभूति द्वारा पहिचाने, तब आनंद सहित सम्यक्त्वादि उत्पन्न हो।

(परमात्म प्रकाश-प्रवचन, गाथा ८०)

जिसकी परिणति में अपने शुद्धात्मा का स्वसंवेदन नहीं, उसकी परिणति किसी न किसी प्रकार के विषय कषाय के आधीन होकर कार्य कर रही है।

मूढ़ जीव, भिन्न आत्मा की पहिचान किये बिना शरीर को ही आत्मा मानता है तथा इसीप्रकार अन्य प्रत्यक्ष जीवों में भी शरीर को ही आत्मा मानता है, अर्थात् अन्य आत्मा की भी सच्ची पहिचान उसको नहीं होती। शरीर अथवा राग से ज्ञानी की पहिचान करना, यह सच्ची पहिचान नहीं कही जा सकती। ज्ञानी तो ज्ञान परिणतिवाले हैं। इसप्रकार सर्वज्ञ भगवान की पहिचान भी वास्तविकता से तभी हो सकती है कि जब स्वयं इन्द्रियातीत होकर अपने ज्ञानस्वभाव को अनुभव में लाये; राग और इन्द्रियों से पार अपने ज्ञानस्वभाव का अंतर्मुख अनुभव प्राप्त किये बिना सर्वज्ञदेव के आत्मा को अथवा ज्ञानी के आत्मा को वह नहीं पहिचान सकता। इसप्रकार ज्ञानी की और सर्वज्ञदेव की सच्ची पहिचान जीव ने कभी नहीं की। बहिरातमा को अपने में देहबुद्धि होने से अन्य आत्माओं को भी देहबुद्धि से ही देखता है।

देखो, इसमें यह सिद्धांत आ जाता है कि स्वयं शुद्ध स्वतत्त्व को पहिचानकर उपादेय किये बिना अन्य का सच्चा ज्ञान नहीं होता। अंतर की अनुभूति से ही स्वतत्त्व उपादेय होता है। उपादेय अर्थात् सर्व प्रकार से आराधना करने योग्य; श्रद्धा से, ज्ञान से, चारित्र से सभी प्रकार से शुद्ध आत्मा का ही सेवन करना योग्य है, अर्थात् इनसे भिन्न अन्य कैसे भी भाव किसी भी प्रकार से सेवन करना योग्य नहीं—ऐसा इसमें आ जाता है।

आत्मवस्तु नित्य है, इसमें आनंद भी नित्य है। असंख्य प्रदेशों के चौड़े-लम्बे आकार

का आत्मा के सभी प्रदेश आनंद स्वभाव से भरे हुए हैं। इनमें अंतर्मुख होकर उनकी आराधना करने से पर्याय में वह आनंद उल्लसित होता है। ऐसा शुद्ध आत्मा, वही भूतार्थ आत्मा है, इसके सेवन से सम्यग्दर्शनादि उत्पन्न होते हैं।

भूतार्थस्वभाव के सन्मुख हो, तब सच्चा आत्मा पहिचाना जा सकता है, पर के सामने देखा इसका अर्थ यह कि केवल पर्याय के सन्मुख ही देखा, इससे सच्चा आत्मा दृष्टि में नहीं आ सकता। सच्चे आत्मा की दृष्टि कहो या भूतार्थस्वभाव की दृष्टि कहो, यही सम्यग्दर्शन है। सच्चे आत्मा को पहिचाने बिना सम्यग्दर्शन किसप्रकार हो सकता है ?

सच्चे आत्मा को जिसने पहिचाना नहीं, वह आत्मा की आराधना कैसे कर सकेगा ? हर समय अतीन्द्रिय आनंद से भरा हुआ यह आत्मस्वभाव, इसको अंतर्मुख परिणति द्वारा उपादेय करने से सच्चा आत्मा श्रद्धा में-ज्ञान में आता है;—इसका नाम है धर्म, इसका नाम है मोक्षमार्ग।

अरे, ऐसा आनंदमय चैतन्य तत्त्व, इसमें विषय-कषाय कैसा ? और देह (शरीर) भी कैसा ? परंतु इसको भूलकर मूढ़ जीव, शरीर को आत्मा के साथ जोड़कर (अर्थात् शरीर को ही आत्मा मानकर) विषयों-कषायों में लीन रहता हैं, शुद्धात्मा के आनंद का वह अनुभव नहीं कर सकता, स्वभाव के आधीन हो तो सम्यक् परिणाम होकर आनंद का अनुभव हो; परंतु स्वभाव को भूलकर विषय-कषाय के आधीन हुआ अर्थात् परवश होकर दुःख का ही अनुभव करता है।

भाई ! सच्चा आत्मा तो उसको कहते हैं कि जिसके सन्मुख होने पर परम आनंद का स्वाद आवे। 'आत्मा' तो आनंद प्रदान करे ऐसा है, दुःख प्रदान करे, ऐसा नहीं। आत्मा के स्वभाव के सन्मुख हो जाये और फिर दुःख रहे, ऐसा नहीं होता कारण कि दुःख आत्मा के स्वभाव में नहीं है, आत्मा के स्वभाव में तो सुख ही भरा है, आनंद ही भरा है। एक बार आत्मा को अनुभूति में ले।

आत्मा की ऐसी अनुभूति आठ वर्ष की बालिका को भी होती है। इसके लिये दीर्घ दीर्घ काल की आवश्यकता नहीं परंतु चैतन्यस्वभाव का रस उत्पन्न करके पर्याय को अंतर्मुख करने से तत्क्षण ही ऐसे आत्मा की अनुभूति होती है। इसप्रकार की अनुभूति करने से पर राग से पार सच्चे आत्मा की पहिचान होती है, इतना होने पर सर्वज्ञ की और उसके साधक संतों की सच्ची पहिचान हो सकती है, तभी मोक्षतत्त्व को वास्तव में पहिचाना, ऐसा कहा जा सकता है।●

आस्तिकता का आंदोलन

नास्तिकता के वर्तमान आकर्षण के युग में भी, ज्ञानी गुरुओं के प्रताप से आस्तिकता का आंदोलन प्रसारित हो रहा है; हजारों बालक, युवान श्रद्धापूर्वक धर्म में रस ले रहे हैं।

प्रश्नः—शास्त्री कहते हैं कि अच्छे काम करनेवाला स्वर्ग में जाता है और बुरे कार्य करनेवाला नरक में जाता है; किंतु नरक स्वर्ग देखा किसने-कौन देखने गया ?

उत्तरः—अपने देश में २४ तीर्थंकर भगवंत हो गये—ऐसा आप मानते हो न ? हाँ; उनको आपने देखा है ? नहीं; फिर भी विश्वास है कि वह थे ही। सामान्य लौकिकजन का उदाहरण लें तो गाँधीजी तथा टैगोर जैसे मनुष्य भी लगभग बीस वर्ष पहले के इस भारतभूमि पर थे, यह तो तुम मानते हो न !—दोनों में से एक को भी तुमने प्रत्यक्ष देखा नहीं, फिर भी मानते हो, शंका नहीं करते। क्योंकि उनका संबंधी पुस्तकों के द्वारा, अन्य अनुभवी मनुष्यों के कथन द्वारा या अन्य अनुमानों से भी तुम स्वीकार करते हो कि वह अवश्य थे।

इसीप्रकार स्वर्ग-नरक भी हैं—इनका स्वीकार किया जा सकता है। इनसे संबंधित शास्त्रों के द्वारा, (शास्त्रकार ऐसे वीतरागी थे कि असत्य लिखने का किंचित् भी उनका प्रयोजन नहीं था) विशेष ज्ञानी, प्रमाणभूत ज्ञानियों के द्वारा तथा अन्य प्रमाण (जातिस्मरण ज्ञान इत्यादि द्वारा) से भी सभी का निःशंक अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। ऐसे प्रामाणिक ज्ञानी जीव भी हैं कि जो पूर्व में-भूतकाल में स्वर्ग में थे, उसका वर्तमान में उनको ज्ञान है। किसी-किसी स्थान पर स्वर्ग के देवों का आगमन भी किसी-किसी समय संभवित है। तीर्थंकर भगवान के कल्याणक के प्रसंग पर तथा भगवान के समवसरण सभा में तो देवों को अपन भी प्रत्यक्ष देख सकते हैं। अमेरिका कभी देखा नहीं है तो भी जितनी सरलता से उसका अस्तित्व स्वीकार किया जाता है, इतनी ही सरलता से स्वर्ग-नरक का अस्तित्व भी स्वीकार किया जा सकता है, तथा इसको अवश्य स्वीकार करना ही चाहिये। स्वर्ग-नरक के कारणरूप भाव पुण्य-पाप भी जीवों में दिखलाई देते हैं; तो उस कारण अनुसार कार्य भी (उनके फलरूप

भी स्वर्ग-नरक) अवश्य होना चाहिए। मोक्षदशा-सिद्धदशा तो इससे भी अत्यंत सूक्ष्म है—जो कि वीतरागी भावों का फल है।

वर्तमान में यहाँ से अपने को स्वर्ग-नरक दिखलाई नहीं देते, यह अपने ज्ञान की कमजोरी है; इसलिये दिखलाई नहीं देते किंतु स्वर्ग-नरक हैं तो सही। इसके संबंध में स्वामीजी अनेक बार युक्तिपूर्वक समझाते हैं...

(१) इस क्षेत्र में तो धूप तथा छाया के समान कभी पुण्य-कभी पाप के संयोगवाले और निद्रा के समय सुख से सोते हुए दिखलाई देता है तो उससे बिलकुल विपरीत दशावाले नरक क्षेत्र हैं, जहाँ निरंतर प्रचुर पाप का ही उदय है।

(२) एक व्यक्ति वर्तमान में कसाईखाना चलाता है, पर हिंसा के परिणाम से महापाप करता है, फिर भी वर्तमान में लाखों-करोड़ों रुपये कमाता है, बंगले-मोटर में विलास करता है, इसप्रकार पुण्य के फल को भोग रहा है; अभी वर्तमान में करता तो है पाप, किंतु भोगता है पुण्य को; तो क्या उसको इस पाप का फल प्राप्त नहीं होगा? होगा ही; पूर्व में किये हुए पुण्य का फल वर्तमान में दिखलाई देता है। लाखों जीवों की हिंसा का तो तीव्र पाप भाव का वर्तमान में सेवन कर रहा है, इसका फल तो नरक-स्थान में भोगेगा। अपनी इस पृथ्वी के बहुत नीचे नरक के सात स्थान हैं, वहाँ असंख्य जीव पापों के फल को भोग रहे हैं तथा ऊपर देवलोक के स्थान हैं। सूर्य-चंद्र, तारे इत्यादि दिखलाई देते हैं, यह भी ज्योतिषी नामक देवों के स्थान हैं, इनमें देव रहते हैं, मनुष्यों का वहाँ निवास नहीं है।

ऊपर जिसप्रकार पापी का जीव दृष्टांत देने में आया; इसीप्रकार वर्तमान में दया इत्यादि शुभ परिणाम करता हो, पुण्य करता हो, फिर भी वर्तमान में दरिद्री दुःखी दिखलाई देता हो तो क्या यह पुण्य का फल है? नहीं; पूर्व में उसने जो पाप किये हैं, उसका यह फल है, तथा वर्तमान में जो पुण्यभाव करता है, उसका फल स्वर्ग में प्राप्त होगा।

एक व्यक्ति ने एक खून किया, पकड़ा जाने पर न्यायालय द्वारा अपराधी सिद्ध हो जाये तो एक बार फाँसी दी जाती है; अब दूसरे व्यक्ति ने एक नहीं किंतु लाखों व्यक्तियों का निर्दयतापूर्वक खून कर दिया, पकड़े जाने पर भी उसको एक ही बार फाँसी दी जाती है। (क्योंकि दो बार फाँसी नहीं दी जा सकती!)—एक खून करनेवाले को भी इतनी ही सजा तथा लाखों खून करनेवाले को भी इतनी ही सजा;—इसमें क्या प्रकृति का न्याय बराबर

हुआ ?—नहीं, यहाँ का राजा भले ही उसके अपराध की पूर्ण सजा नहीं दे सकता हो, किंतु प्रकृति के न्याय में से वह बच नहीं सकता। (यहाँ पर तो कभी हजारों खून करने के बाद भी निर्दोष होकर छूट सकता है, किंतु प्रकृति के निधान में वह छूट नहीं सकता।) नरक में जाकर अपने पापों की सजा पूर्णरूप से प्राप्त करेगा। [जहाँ ऐसा शरीर मिलता है कि असंख्य बार शरीर छिन्न-भिन्न हो जाने पर भी पूर्ववत शरीर अखंड बन जाता है, जैसे पारा बिखरकर एक हो जाता है। अत: वहाँ की आयु ही ऐसी है।]

इसप्रकार पुण्य-पाप जैसे भी भाव जीव करता है, उसका फल प्राप्त करता है। जीव स्वयं एक गति में से दूसरी गति में पुनर्जन्म करता है। पूर्व में किये गये पापों को वर्तमान में आत्मज्ञान द्वारा नष्ट किये भी जा सकते हैं। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के द्वारा पाप तथा पुण्य से रहित दशा जब प्रगट होती है, तब जीव मुक्ति को प्राप्त करता है अर्थात् मोक्षदशा प्राप्त करता है, स्वयं भगवान बनता है, परमात्मा होता है।

- तत्त्व में रुचि नहीं है, अतत्त्व में जिसका चित्त लग रहा है, ऐसा मनुष्य, शास्त्र विशेषरूप में जानता भी हो, और भावपूर्वक अनेक प्रकार के तप करे फिर भी वह अबाधित ऐसी मुक्ति के सुख को प्राप्त करता नहीं है।
- सुरेन्द्र, नरेन्द्रों की संपदा सर्व सुगमता से प्राप्त होती है, किंतु मोही प्राणी को समस्त कर्मक्षय का कारण और सदा पावनकारी ऐसा जैन-दर्शन मिलता ही नहीं ॥१५४॥
- जिसे सर्वज्ञ कथित विशुद्ध और मुक्तिदाता सम्यग्दर्शन है, वह अतिपावनकारी ऐसे तीर्थंकर पद को प्राप्त होता है ॥१६६॥
- सम्यग्दर्शन आनंदित फल को देता है कि जो फल दया, ध्यान, अहिंसा, तप, जितेन्द्रियता, विनय और नय भी दे सकते नहीं हैं ॥१६७॥

[अमितगति आचार्यकृत सुभाशित०]

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी कृत

गोम्मटसार-पीठिका

[आत्मधर्म के जिज्ञासुगण के लिये मूल प्रति में से भाषा परिवर्तन सहित प्रस्तावना है।]

वंदौ ज्ञानानंदकर, नेमिचंद गुणकंद।
माधव-वंदित विमलपद, पुण्य पयोदधि नंद॥१॥
दीप दहन गुन गहन धन, अरि करि हरि अरहंत।
स्वानुभूति रमनीरमन, जग नायक जयवंत॥२॥
सिद्ध शुद्ध साधित सहज, स्वरस सुधारस धार।
समयसार शिव सर्वगत, नमत होहु सुखकार॥३॥
जैसी बानी विविधविधि, बरतन विश्व प्रमान।
स्यात्पद मुद्रित अहित हर करहु सकल कल्यान॥४॥
मैं नमो नगन जैनजन, ज्ञान ध्यान धन लीन।
मैन मान बिन दान धन, एन हीन तन छीन॥५॥
(यह चित्रालंकार युक्त है।)
इह विधि मंगल करन तैं सब विधि मंगल होत।
होत उदंगल दूरि सब, तम ज्यों भानु उद्योत॥६॥

अब मंगलाचरण के द्वारा श्रीमद् गोम्मटसार जिसका अपर नाम पंचसंग्रह ग्रंथ उसकी देशभाषामय टीका करने का उद्यम करता हूँ। यह ग्रंथ-समुद्र तो ऐसा है जिसमें सातिशय बुद्धि-बल सहित जीवों का भी प्रविष्ट होना दुर्लभ है। और मैं मंदबुद्धि (इस ग्रंथ का) अर्थ प्रकाशनेरूप इसकी टीका करने का विचार कर रहा हूँ।

यह विचार तो ऐसा हुआ जैसे कोई अपने मुख से जिनेन्द्रदेव का सर्वगुण वर्णन करना चाहे तो वह कैसे करे ?

प्रश्न:—नहीं बनता; तो उद्यम क्यों कर रहे हो ?

उत्तर:—जैसे जिनेन्द्रदेव के सर्वगुण का वर्णन करने की सामर्थ्य नहीं है, फिर भी भक्तपुरुष भक्ति के वश अपनी बुद्धि के अनुसार गुण-वर्णन करता है, उसीप्रकार इस ग्रंथ के

संपूर्ण अर्थ का प्रकाशन करने की सामर्थ्य न होने पर भी अनुराग के वश मैं अपनी बुद्धि-अनुसार अर्थ का प्रकाशन करूँगा।

प्रश्न:—यदि अनुराग है तो अपनी बुद्धि अनुसार ग्रंथाभ्यास करो, किंतु मंदबुद्धिवालों को टीका करने का अधिकारी होना उचित नहीं है ?

उत्तर:—जैसे किसी पाठशाला में बहुत बालक पढ़ते हैं, उनमें कोई बालक विशेष ज्ञान रहित है, फिर भी अन्य बालकों से अधिक पढ़या है तो वह अपने से अल्प पढ़नेवालों को अपने समान ज्ञान होने के लिये कुछ लिख देने आदि के कार्य का अधिकारी होता है। उसीप्रकार मुझे विशेषज्ञान नहीं है, फिर भी कालदोष से मुझसे भी मंदबुद्धि वाले हैं और होंगे ही। उन्हीं के लिये मुझ समान इस ग्रंथ का ज्ञान होने के लिये टीका करने का अधिकारी हुआ हूँ।

प्रश्न:—यह कार्य करना है ऐसा तो आपने विचार किया। किंतु छोटा मनुष्य बड़ा कार्य करने का विचार करे तो वहाँ पर उस कार्य में गलती होती ही है, और वहाँ वह हास्य का स्थान बन जाता है। उसीप्रकार आप भी मंदबुद्धिवाले हैं, अत: इस ग्रंथ की टीका करने का विचार कर रहे हो तो गलती होगी ही और वहाँ पर हास्य का स्थान बन जाओगे।

उत्तर:—यह बात तो सत्य है कि मैं मंदबुद्धि होने पर भी ऐसे महान ग्रंथ की टीका करने का विचार करता हूँ, वहाँ भूल तो हो सकती है किंतु सज्जन हास्य नहीं करेंगे। जैसे दूसरों से अधिक पढ़ा हुआ बालक कहीं भूल करे, तब बड़े जन ऐसा विचार करते हैं कि 'बालक है, भूल करे ही करे, किंतु अन्य बालकों से भला है,' इसप्रकार विचार कर हास्य नहीं करेंगे, उसीप्रकार मैं यहाँ कहीं भूल जाऊँ, वहाँ सज्जन पुरुष ऐसे विचार करेंगे कि वह मंदबुद्धि था सो भूले ही भूले किंतु कितने ही अतिमंद बुद्धिवालों से तो भला है, ऐसे विचारकर हास्य नहीं करेंगे।

प्रश्न:—सज्जन तो हास्य नहीं करेंगे, किंतु दुर्जन तो हास्य करेंगे ही ?

उत्तर:—दुष्ट तो ऐसे ही हैं, जिनके हृदय में दूसरों के निर्दोष-भले गुण भी विपरीतरूप ही भासते हैं किंतु उनके भय से, जिसमें अपना हित हो—ऐसे कार्य को कौन न करेगा ?

प्रश्न:—पूर्व ग्रंथ तो थे ही उन्हीं का अभ्यास करने-करावाने से ही हित होता है, मंदबुद्धि से ग्रंथ की टीका करने की महंतता क्यों प्रगट करते हो ?

उत्तर:—ग्रंथ का अभ्यास करने से-ग्रंथ के टीका की रचना करने में उपयोग विशेष

लग जाता है, अर्थ भी विशेष प्रतिभास में आता है, अन्य जीवों को ग्रंथाभ्यास कराने का संयोग होना दुर्लभ और संयोग होने पर भी किसी जीव को अभ्यास होता है। और ग्रंथ की टीका बनने से तो परंपरागत अनेक जीवों को अर्थ का ज्ञान होगा। इसलिये स्व-पर अन्य जीवों का विशेष हित होने के लिये टीका करने में आती है, महंतता का तो कुछ प्रयोजन ही नहीं है।

प्रश्नः—यह सत्य है कि—इस कार्य में विशेष हित होता है, किंतु बुद्धि की मंदता से कहीं भूल से अन्यथा अर्थ लिखा जाये तो वहाँ महापाप की उत्पत्ति होने से अहित भी होगा ?

उत्तरः—यथार्थ सर्वपदार्थों के ज्ञाता तो केवली भगवान हैं, दूसरों को ज्ञानावरण का क्षयोपशम के अनुसार ज्ञान है, उसको कोई अर्थ अन्यथा भी प्रतिभास में आ जाये किंतु जिनदेव का ऐसा उपदेश है। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्रों के वचन की प्रतीति से वा हठ से वा क्रोध-मान-माया-लोभ से व हास्य भयादिक से यदि अन्यथा श्रद्धा करे वा उपदेश दे तो—वह महापापी है और विशेषज्ञानवान गुरु के निमित्त बिना वा अपने विशेष क्षयोपशम बिना कोई सूक्ष्म अर्थ अन्यथा प्रतिभासित हो और वह ऐसा जाने कि जिनदेव का उपदेश ऐसे ही है, ऐसा जानकर कोई सूक्ष्म अर्थ की अन्यथा श्रद्धा करे वा उपदेश दे तो उसको महत पाप नहीं होता, वही इस ग्रंथ में भी आचार्य ने कहा है—

सम्माइट्ठी जीवो उबइट्ठं पवयणं तु सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं अजाणमाणो गुरुणियोगा॥२७॥ जीवकांड

प्रश्नः—आपने अपने विशेष ज्ञान से ग्रंथ का यथार्थ सर्व अर्थ का निर्णय करके टीका करने का प्रारंभ क्यों न किया ?

उत्तरः—कालदोष से केवली-श्रुत केवली का तो यहाँ अभाव ही हुआ; विशेष ज्ञानी भी विरले मिले। जो कोई है, वह तो दूर क्षेत्र में है, उनका संयोग दुर्लभ है और आयु, बुद्धि, बल, पराक्रम आदि तुच्छ रह गए हैं, इसलिये जितना हो सका, वह अर्थ का निर्णय किया, अवशेष जैसे हैं, तैसे प्रमाण हैं।

प्रश्नः—तुमने कहा वह सत्य है, किंतु इस ग्रंथ में जो भूल होगी, उनके शुद्ध होने का कुछ उपाय भी है ?

उत्तरः—ज्ञानवान् पुरुषों का प्रत्यक्ष संयोग नहीं है, इससे उनको परोक्ष ही ऐसी विनंती करता हूँ कि—मैं मंदबुद्धि हूँ, विशेष ज्ञानरहित हूँ, अविवेकी हूँ, शब्द, न्याय, गणित धार्मिक

आदि ग्रंथों का विशेष अभ्यास मुझे नहीं है, इसलिये मैं शक्तिहीन हूँ, फिर भी धर्मानुराग के वश टीका करने का विचार किया है, उसमें जहाँ-जहाँ भूल हो, अन्यथा अर्थ हो जाये, वहाँ-वहाँ मेरे ऊपर क्षमा करके उस अन्यथा अर्थ को दूर करके यथार्थ अर्थ लिखना, इसप्रकार विनति करके जो भूल होगी, उसे शुद्ध होने का उपाय किया है।

प्रश्नः—आपने टीका करने का विचार किया, वह तो अच्छा किया है किंतु ऐसे महान ग्रंथ की टीका संस्कृत ही चाहिये, भाषा में तो उसकी गंभीरता भासित नहीं होगी ?

उत्तरः—इस ग्रंथ की जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका तो पूर्व है ही। किंतु वहाँ संस्कृत गणित आम्नाय आदि के ज्ञानरहित जो मंदबुद्धि है, उसका प्रवेश नहीं होता। यहाँ काल दोष बुद्धि आदि के तुच्छ होने से संस्कृतादि के ज्ञान रहित ऐसे जीव बहुत हैं, उन्हीं को इस ग्रंथ के अर्थ का ज्ञान होने के लिये भाषा टीका करता हूँ। जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानवान हैं, वह मूल ग्रंथ वा टीका से अर्थ धारण करे। जो जीव संस्कृतादि विशेष ज्ञानरहित हैं, वे इस भाषा टीका से अर्थ ग्रहण करें। और जो जीव संस्कृतादि ज्ञानसहित हैं परंतु गणित आम्नायादिक के ज्ञान के अभाव से मूल ग्रंथ का व संस्कृत टीका में प्रवेश नहीं पा सकते हैं, वे इस भाषा टीका से अर्थ को धारण करके मूल ग्रंथ व संस्कृत टीका में प्रवेश करें। और जो भाषा टीका से मूल ग्रंथ व संस्कृत टीका में अधिक अर्थ हो सके, उसको जानने का अन्य उपाय बनें उसे करे।

प्रश्नः—संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा अभ्यास में अधिकार नहीं है ?

उत्तरः—संस्कृत ज्ञानवालों को भाषा वांचने से तो दोष आते नहीं हैं, अपना प्रयोजन जैसे सिद्ध हो, वैसे ही करना। पूर्व में अर्धमागधी आदि भाषामय महाग्रंथ थे। जब बुद्धि की मंदता जीवों के हुई, तब संस्कृतादि भाषामय ग्रंथ बने। अब विशेष बुद्धि की मंदता जीवों को हुई, उससे देशभाषामय ग्रंथ करने का विचार हुआ। संस्कृतादि अर्थ भी अब भाषा द्वारा जीवों को समझाते हैं। यहाँ भाषा द्वारा ही अर्थ लिखने में आया तो कुछ दोष नहीं है। इसप्रकार विचार कर श्रीमद् गोम्मटसार द्वितीय नाम पंच संग्रह ग्रंथ की जीवतत्त्व प्रदीपिका नामक संस्कृत टीका के अनुसार 'सम्यग्ज्ञान चंद्रिका' नामक यह देशभाषायमी टीका करने का निश्चय किया है। श्री अरहंतदेव या जिनवाणी वा निर्ग्रंथ गुरुओं के प्रसाद से वा मूलग्रंथ कर्ता श्री नेमिचंद आदि आचार्य के प्रसाद से यह कार्य सिद्ध हो।

अब इस शास्त्र के अभ्यास में जीवों को सन्मुख किया जाता है। हे भव्य जीव, तुम अपने हित की वांछा करते हो तो तुमको जिसप्रकार हित बने, वैसे ही इस शास्त्र का अभ्यास करना। कारण कि आत्मा का हित मोक्ष है। मोक्ष के बिना अन्य जो है, वह पर संयोगजनित है, विनाशिक है, दु:खमय है, और मोक्ष है, वही निजस्वभाव है, अविनाशी है, अनंत सुखमय है। इसलिये मोक्षपद की प्राप्ति का उपाय तुमको करना चाहिये। मोक्ष का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है। इनकी प्राप्ति जीवादिक के स्वरूप जानने से ही होती है, उसे कहता हूँ।

जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। उसे बिना जाने श्रद्धान का होना आकाश के फूल समान है। प्रथम जाने, तब फिर वैसे ही प्रतीति करने से श्रद्धान को प्राप्त होता है। इसलिये जीवादिक का जानना, श्रद्धान होने से पूर्व ही होते हैं, वही उनके श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन का कारणरूप जानना। श्रद्धान होने पर जो जीवादिक का जानना होता है, उसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। श्रद्धानपूर्वक जीवादि को जानते ही स्वयमेव उदासीन होकर हेय का त्याग, उपादेय का ग्रहण करता है, तब सम्यक्चारित्र होता है। अज्ञानपूर्वक क्रियाकांड से सम्यक्चारित्र होता नहीं। इसप्रकार जीवादिक को जानने से ही सम्यग्दर्शनादि मोक्ष के उपायों की प्राप्ति निश्चय करनी ही चाहिये। इस शास्त्र के अभ्यास से जीवादिक का जानना यथार्थ होता है, जो संसार है, वही जीव और कर्म का संबंधरूप है। विशेष जानने से इनके संबंध का अभाव होता है, वही मोक्ष है। यह इस शास्त्र में जीव और कर्म का ही विशेष निरूपण है। अथवा जीवादिक का, षट्द्रव्य, सात तत्त्वादिक का भी उसमें यथार्थ निरूपण है। अत: इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

अब यहाँ कोई जीव इस शास्त्र के अभ्यास में अरुचि होने के कारण विपरीत विचार प्रगट करता है। कोई जीव प्रथमानुयोग वा चरणानुयोग वा द्रव्यानुयोग के केवल पक्ष करके इस करणानुयोगरूप शास्त्र में अभ्यास का निषेध करते हैं, उनमें से प्रथमानुयोग का पक्षपाती कहता है कि—वर्तमान में जीवों की बुद्धि मंद बहुत है, उन्हीं को ऐसे सूक्ष्म व्याख्यानरूप शास्त्र में कुछ भी समझ होती नहीं। इससे तीर्थंकरादिक की कथा का उपदेश दिया जाये तो ठीक समझ लेगा और समझकर पाप से डरे, धर्मानुरागरूप होगा इसलिये प्रथमानुयोग का उपदेश कार्यकारी है—उन्हें उत्तर दिया जाता है—

अब भी सब जीव तो एक से नहीं हुए हैं, हीनाधिक बुद्धि दिख रही है। अत: जैसे जीव

हो, वैसा उपदेश देना। अथवा मंदबुद्धि जीव भी सिखाने से अभ्यास में बुद्धिमान होता दिख रहा है। इसलिये जो बुद्धिमान है, उन्हीं को तो वह ग्रंथ कार्यकारी ही है, और जो मंदबुद्धि है, वह विशेष बुद्धि द्वारा सामान्य विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप सीखकर इस शास्त्र के अभ्यास में प्रवर्ति करें।

यहाँ मंद बुद्धिमान कहता है कि इस गोम्मटसार शास्त्र में तो गणित समस्या अनेक अपूर्व कथन से बहुत कठिनता है, ऐसा सुनते आये हैं। हम उसमें किसप्रकार प्रवेश कर सकते हैं ?

समाधान—भय न करो। इस भाषा टीका में गणित आदि का अर्थ सुगमरूप बनाकर कहा है, अतः प्रवेश पाना कठिन नहीं रहा है। इस शास्त्र में कहीं तो सामान्य कथन है, कहीं विशेष है; कहीं सुगम है, कहीं कठिन है। वहाँ जो सर्व अभ्यास बन सके तो अच्छा ही है और यदि न हो सके तो अपनी बुद्धि के अनुसार जैसा हो सके, वैसा ही अभ्यास करो, अपने उपाय में आलस करना नहीं। तूने कहा जो प्रथमानुयोग संबंधी कथादिक सुनने से पाप से डर कर धर्मानुरागरूप होता है, वह तो वहाँ दोनों कार्य शिथिलता लिये होते हैं। यहाँ पुण्य-पाप के कारण-कार्यादिक विशेष जानने से वे दोनों कार्य दृढ़ता लिये होते हैं। अतः उनका अभ्यास करना। इसप्रकार प्रथमानुयोग के पक्षपाती को इस शास्त्र के अभ्यास में सन्मुख किया।

अब चरणानुयोग का पक्षपाती कहता है कि—इस शास्त्र में कथित जीव-कर्म का स्वरूप है, वह जैसे है वैसे ही है। उनको जानने से क्या सिद्धि होती है ? यदि हिंसादिक का त्याग करके उपवासादि तप किया जाये वा व्रत का पालन किया जाये वा अरिहंतादिक की पूजा, नाम स्मरण आदि भक्ति की जाये वा दान दीजिये व विषय-कषायादिक से उदासीन बने इत्यादिक जो शुभकार्य किया जाये तो आत्माहित हो, इसलिये इनका प्ररूपक चरणानुयोग का उपदेशादिक करना। उसको कहते हैं कि हे स्थूलबुद्धि ! तूने व्रतादिक शुभ कार्य कहे, वह करने योग्य ही हैं किंतु वह सर्व सम्यक्त्व के बिना ऐसे हैं, जैसे अंक बिना बिंदी। और जीवादिक का स्वरूप बिना जाने सम्यक्त्व का होना ऐसा, जैसे बांझ का पुत्र। अतः जीवादिक जानने के अर्थ इस शास्त्र का अभ्यास अवश्य करना।

तूने जिसप्रकार व्रतादिक शुभकार्य कहा; और उससे पुण्यबंध होता है। उसीप्रकार जीवादिक जाननेरूप ज्ञानाभ्यास है, वह प्रधान शुभकार्य है। इससे अतिशय पुण्य का बंध होता

है और उन व्रतादिक में भी ज्ञानाभ्यास की ही मुख्यता है, उसे ही कहते हैं। जो जीव प्रथम जीव समासादि जीवों के विशेष जानकर पश्चात् यथार्थ ज्ञान से हिंसादिक का त्यागी बनकर व्रत को धारण करे, वही व्रती है। जीवादिक के विशेष को जाने बिना कथंचित् हिंसादिक के त्याग से आपको व्रती माने तो वह व्रती नहीं है। इसलिये व्रत पालन में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। तप दो प्रकार हैं—(१) बहिरंग, (२) अंतरंग। जिसके द्वारा शरीर का दमन हो, वह बहिरंग तप है और जिससे मन का दमन होवे; वह अंतरंग तप है। इनमें बहिरंग तप से अंतरंग तप उत्कृष्ट है। उपवासादिक बहिरंग तप है, ज्ञानाभ्यास अंतरंग तप है—सिद्धांत में भी ६ प्रकार के अंतरंग तपों में चौथा स्वाध्याय नाम का तप कहा है, उससे उत्कृष्ट व्युतसर्ग और ध्यान ही हैं; इसलिये तप करने में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। जीवादिक के विशेषरूप गुणस्थानादिक का स्वरूप जानने से ही अरिहंत आदि का स्वरूप भले प्रकार पहिचाने जाते हैं। अपनी अवस्था पहचानी जाती है; ऐसी पहिचान होने पर जो अंतरंग में तीव्र भक्ति प्रकट होती है, वही बहुत कार्यकारी है। जो कुलक्रमादिक से भक्ति होती है, वह किंचित्मात्र ही फल देती है। इसलिये भक्ति में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है।

दान, चार प्रकार होते हैं, उनमें आहारदान, औषधदान, अभयदान तो तत्काल क्षुधा के दुःख के या रोग के या मरणादिक दुःख को दूर करते हैं। और ज्ञानदान वह अनंतभव संतान से चले आ रहे दुःख को दूर करने में कारण है। तीर्थंकर केवली, आचार्यादिक के भी ज्ञानदान की प्रवृत्ति है, इससे ज्ञानदान उत्कृष्ट है, इसलिये अपने ज्ञानाभ्यास हो तो अपना भला कर लेता है और अन्य जीवों को भी ज्ञानदान देता है।

ज्ञानाभ्यास के बिना ज्ञानदान कैसे हो सकता है? इसलिये दोनों में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। जैसे जन्म से ही कोई पुरुष ठगों के घर जाये, वहाँ वह ठगों को अपना मानता है, कदाचित् कोई पुरुष किसी निमित्त से अपने कुल का और ठगों का यथार्थ ज्ञान करने से ठगों से अंतरंग में उदासीन हो जाता है। उनको पर जानकर संबंध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है, वैसी प्रवृत्ति करता है। और कोई पुरुष उन ठगों को अपना ही जानता है, किसी कारण से कोई ठगों से अनुराग करता है और कोई ठगों से लड़कर उदासीन होता है, आहारादिक का त्याग कर देता है, वैसे अनादि से सब जीव संसार में हैं, वह कर्मों को अपना मानता है। उनमें कोई जीव किसी निमित्त से जीव और कर्म का यथार्थ ज्ञान करके कर्मों से

उदासीन होकर उनको पर जानता है, उनसे संबंध छुड़ाना चाहता है। बाहर में जैसा निमित्त है, वैसी प्रवृत्ति करता है। इसप्रकार ज्ञानाभ्यास के द्वारा उदासीन होता है, वही कार्यकारी है। कोई जीव उन कर्मों को अपना जानता है, और किसी कारण से कोई कर्मों से अनुरागरूप प्रवृत्ति करता है, कोई अशुभ कर्म को दु:ख का कारण जानकर उदासीन होकर विषयादिक का त्यागी होता है, इसप्रकार ज्ञान के बिना जो उदासीनता होती है, वह पुण्यफल की दाता है, मोक्ष-कार्य का साधन नहीं है। अत: उदासीनता में भी ज्ञानाभ्यास ही प्रधान है। उसीप्रकार अन्य भी शुभ कार्यों में ज्ञानाभ्यास ही प्रधान जानना। देखो, महामुनि के भी ध्यान अध्ययन दो ही कार्य मुख्य हैं। इसलिये शास्त्र अध्ययन द्वारा जीव-कर्म का स्वरूप जानकर स्वरूप का ध्यान करना।

क्रमश:

अहो, अनादि से जिसकी शरण के बिना यह जीव संसार में दु:खी हो रहा है, ऐसे शरणभूत ज्ञानानंदमय आत्मा की शरण जिसने ली, वह जीव स्वयमेव सुखी है, सुख के लिये जगत के किसी भी पदार्थ की उसको इच्छा नहीं। सुख से परिपूर्ण अपने आत्मा के अनुभव से ही जीव सुखी है। उस सुख का भंडार जीव स्वयं ही है, ऐसे निज निधान को हे जीवों! तुम पहिचानो।

मोक्षार्थी जीवों पर अनुग्रह करके संत

शुद्धनय का अवलंबन कराते हैं

(समयसार, गाथा २७२ के प्रवचन से)

एवं ववहारणओ पडिसिद्धो जाण णिच्छयणयेण।
णिच्छयणयासिदा पुण मुणिणो पावंति णिव्वाणं ॥२७२॥

प्रश्नः—आपने व्यवहारनय को हेय बतलाया, किंतु मोक्षमार्ग में सम्यग्दृष्टि को भी व्यवहार होता तो अवश्य है।

उत्तरः—मोक्षमार्ग की साधना करते हुए सम्यग्दृष्टि को बीच में व्यवहार हो तो भले हो, किंतु उसे उसमें एकत्वबुद्धि नहीं होती, उस व्यवहार के आश्रय से मेरा कल्याण होगा, ऐसा वह नहीं मानता। शुद्धात्मा में ही एकत्वबुद्धि होने के कारण उसे शुद्धात्मा के आश्रय से निर्मल परिणामों की धारा सतत चलती रहती है और व्यवहार उससे पृथक् ही रहता है। इसलिये मोक्षमार्ग में व्यवहार साथ होने पर भी, कहीं व्यवहार के आश्रित मोक्षमार्ग नहीं है। शरीरादि परद्रव्य भी मोक्षमार्ग में साथ वर्तते हैं, किंतु जिसप्रकार वे शरीरादि पदार्थ परद्रव्य हैं, उसीप्रकार मोक्षमार्ग की अपेक्षा (अथवा शुद्ध आत्मा की अपेक्षा) वह रागरूप व्यवहार भी परद्रव्य की भाँति भिन्न ही है; इसलिये परद्रव्य होने पर भी जिसप्रकार उसके आश्रय से मोक्षमार्ग नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के आश्रय से भी मोक्षमार्ग नहीं है। इसप्रकार परद्रव्य की भाँति ही पराश्रित व्यवहार को आत्मा के शुद्धस्वभाव से भिन्न जाने बिना शुद्धात्मा के अनुभवरूप सम्यग्दर्शनादि नहीं होते, मोक्षमार्ग नहीं होता। इसलिये सम्यग्दृष्टि व्यवहार से मुक्त है-पृथक् है। हे भाई! तू व्यवहार से पृथक् हो... और शुद्ध आत्मा में आ तो तुझे सम्यग्दर्शन होगा। सम्यग्दर्शन के पश्चात् जो रागरूप व्यवहार आये, उसमें सम्यग्दृष्टि बँधता नहीं है, अर्थात् उसमें एकत्वबुद्धि नहीं करता, किंतु उससे पृथक् ही रहता है; इसलिये सम्यग्दृष्टि को व्यवहार से मुक्त (पृथक्) ही कहा है। जो व्यवहार में बँधता है—उसमें एकता करके अटकता है—वह मिथ्यादृष्टि है।

प्रश्नः—तो क्या व्यवहार है ही नहीं?

उत्तर:—व्यवहार है अवश्य, किंतु मोक्षमार्ग उसके आश्रित नहीं है। व्यवहाराश्रित मोक्षमार्ग मानना तो परद्रव्य से लाभ मानने जैसा है। परद्रव्य है, इसलिये स्वद्रव्य है—ऐसी मान्यता में जिसप्रकार स्व-पर की एकत्वबुद्धिरूप मिथ्यात्व है; उसीप्रकार रागरूप व्यवहार है तो उसके कारण निश्चय है—ऐसी मान्यता में स्वभाव और परभाव की एकताबुद्धिरूप मिथ्यात्व है।

साधक को तो सुख के साथ किंचित् दुःख भी है; दोनों धाराएँ (एक कम तो दूसरी अधिक) साथ ही प्रवाहमान हैं; तो क्या दोनों साथ होने का अर्थ यह हुआ कि एक के कारण दूसरा है ? क्या दुःख है, इसलिये सुख है ?—नहीं। जिसप्रकार वे दोनों साथ होने पर भी दुःख के कारण सुख नहीं हैं; उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार दोनों साथ होने पर भी व्यवहार है, इसलिये निश्चय है—ऐसा नहीं है। व्यवहार के आश्रय से बंधन है और निश्चय के आश्रय से मुक्ति है:—इसप्रकार दोनों भिन्न-भिन्नरूप में वर्तते हैं।

व्यवहार है, इसलिये मोक्षमार्ग है—ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; परंतु ऐसा कहा जा सकता है कि व्यवहार का आश्रय होने से बंधन है। जिसके आश्रय से बंधन होता है, उसे मोक्ष का साधन मानना तो मोक्षमार्ग का घात करने समान है। जो जीव व्यवहार को मोक्ष का साधन मानकर उसका आश्रय करता है, उस जीव की पर्याय में मोक्षमार्ग का घात हो जाता है-उसके सम्यक्त्वादि नष्ट हो जाते हैं और वह जीव मिथ्यात्वादि से बँधता ही है—छूटता नहीं है। भाई, मुक्ति का मार्ग तो व्यवहार से न्यारा है; अंतर में अपने शुद्ध आत्मा के आश्रित ही तेरा मोक्षमार्ग है... तेरे चैतन्य में ऐसा अचिंत्य गुप्त चमत्कार है कि उसके सन्मुख होते ही बंधन के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और अबंधभाव मोक्षमार्ग प्रगट होता है; इसलिये हे मोक्षार्थी ! तू मोक्ष के लिये शुद्धनय का अवलंबन लेकर शुद्धात्मा को ग्रहण कर—ऐसा संतों का करुणापूर्वक उपदेश है।

जिसे मोक्ष की ही अभिलाषा है, ऐसे मोक्षार्थी को बंधपरिणाम का उत्साह कैसे आयेगा ? मोक्षार्थी को तो शुद्धात्मा के ग्रहण का ही उत्साह है। बंधपरिणाम के उत्साही को शुद्धात्मा की रुचि ही नहीं है, इसलिये सचमुच वह मोक्षार्थी नहीं किंतु संसारार्थी ही है। अहा ! देखो तो सही ! यह वीतरागी संतों की वाणी !! एक ओर पूर्ण चैतन्यदीप्ति से भरा हुआ ज्ञायक-भंडार, और दूसरी ओर सर्व पराश्रित व्यवहार—दोनों का अत्यंत भेदज्ञान कराया है। दोनों की जाति भिन्न, दोनों के आश्रय भिन्न और दोनों के फल भी भिन्न !

- **एक स्वभाव, दूसरा परभाव।**
- **एक का आश्रय स्व, दूसरे का पर।**
- **एक का फल मोक्ष, दूसरे का संसार**

दोनों की धारा सतत भिन्न-भिन्न ही प्रवाहित होती है, कभी एक नहीं होती।

जिसे मोक्ष का उत्साह है, उसे बंधन का उत्साह क्यों होगा? जिसे व्यवहार का उत्साह है, उसे परभाव का उत्साह है, उसे पराश्रय का उत्साह है, उसे संसारमार्ग का ही उत्साह है। आचार्यदेव उसे व्यवहार का आश्रय छुड़ाने के लिये उपदेश देते हैं कि—अरे जीव! जिस व्यवहार के आश्रय से तू मोक्षमार्ग मानता है, उसका आश्रय तो अभव्य भी करता है—यदि उस अभव्य की मुक्ति नहीं है तो तेरी कैसे होगी? इसलिये व्यवहार के आश्रय की बुद्धि छोड़ और शुद्धात्मस्वरूप निश्चय को जानकर उसी का आश्रय कर... उसके आश्रय के अवश्य तेरी मुक्ति होगी! शुद्धात्मा का आश्रय ले-लेकर अनंत मुनिवरों ने मोक्ष प्राप्त किया है, इसलिये तू शुद्धात्मा का ही आश्रय ले!

बच्चों को ज्ञान दीजिये

बालकों में बचपन से ही उत्तम धार्मिक संस्कार डाले जायें तो वे अत्यंत उपयोगी सिद्ध होंगे। जितनी आवश्यकता मंदिरों की है, उतनी ही आवश्यकता धार्मिक ज्ञान की भी है। धर्म प्रभावना के पीछे या अन्य प्रकार से लाखों रुपये खर्च किये जाते हैं, उसके बदले लाखों बालकों में धार्मिक संस्कार डालने के लिये भी जैन समाज को जागृत होने की आवश्यकता है। पूज्य स्वामीजी भी कई बार कहते हैं कि वर्तमान में तो लोगों को सच्चा ज्ञान प्राप्त हो, इसके लिये अधिक से अधिक वीतरागी साहित्य का प्रकाशन किया जाये और लोगों को सस्ते मूल्य में प्राप्त हो, ऐसी व्यवस्था होना चाहिये।

रतलाम में दो दिन

पूज्य स्वामीजी रतलाम शहर में प्रथम बार पधारे। रतलाम की जनसंख्या करीब एक लाख है, जिसमें दिगम्बर जैनों के १२५ और श्वेताम्बर जैनों के १५०० घर हैं, स्वामीजी का समस्त जैन समाज ने एक होकर भारी उत्साह से भावभीना स्वागत किया। श्वेताम्बर समाज की बैंडपाटी भी स्वागत जुलूस में थी, सर्वप्रथम धर्मध्वज के पश्चात् १०८ कुमारिका बहिनें मंगल कलशों सहित थी, युवक उत्साह सहित भजन और जयनाद करते थे। रतलाम के जैन समाज को विशेष धन्यवाद दिया जाये, ऐसी सुंदर व्यवस्था और सुंदर स्वागत किया था। चांदनी चौक में जिनमंदिर के समीप विशाल सभामंडप श्रोताओं से खचाखच भर गया था। स्वागत विधि पश्चात् मंगल-प्रवचन में स्वामीजी ने कहा कि:—

भगवान आत्मा ज्ञानानंदस्वरूप है; शक्ति में पूर्णज्ञान-आनंद है, उसके आश्रय से ही यह आनंद प्रगट होता है। जिनेन्द्रदेव परमात्मा कहते हैं कि आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानानंदस्वरूप है, भगवान को तो अनंत अतीन्द्रिय आनंद प्रगट हुआ, वह कहीं बाहर से नहीं आया; भीतर आत्मा में था, वही वर्तमान दशा में प्रगट होता है। राग से पार वीतरागी आनंद से परिपूर्ण प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है।

अहो, आत्मा के ऐसे वीतराग स्वभाव की महिमा सुनकर उस स्वभाव की लगन लगना चाहिये। धर्मी जीव दुनिया की दरकार छोड़कर अपने आत्मा में ही चित्त लगाते हैं। दुनिया तो दुनिया के पास रही, दुनिया के पास से हमें कुछ लेना नहीं है, हमें तो अपने आत्मा के आनंद की लगन लगी है; वह कभी छूटनेवाली नहीं है। अत: आत्मा की लगन में दुनिया का लक्ष छोड़ दिया है।

आत्मा की ऐसी लगन लगाकर उसके सन्मुख होने पर जो आनंद का स्वाद आता है, वह धर्म है, वह अपूर्व मंगल है। आत्मस्वभाव के सन्मुख होने पर जो सम्यग्ज्ञान और अतीन्द्रिय आनंद की कला खिले, वह धर्म है।

विभाव से विमुख होकर स्वभाव सन्मुखता एक क्षण भी जीव ने नहीं की। आत्मा स्वयं

अनादि-अनंत सत् वस्तु है, स्वयं आनंद से भरपूर है। जिसप्रकार कस्तूरी मृग की नाभि में होने पर भी अज्ञान के कारण बाहर ढूँढ़ता है; उसीप्रकार आत्मा में आनंद की कस्तूरी भरी है, किंतु अपनी निधि को भूलकर वह बाहर ढूँढ़ता है। अंतर के स्वभाव को लक्ष में ले तो आनंद का समुद्र उछलने लगे; उस आनंद के लिये किसी बाह्यसाधन की या राग की आवश्यकता नहीं है। ऐसे आत्मा को ही 'भगवान' कहा जाता है। ऐसे भगवान आत्मा को पहचानना, उसकी रुचि करना, उसका अनुभव करना, वह अपूर्व मंगल धर्म है।

यहाँ इंदौर, भोपाल, उज्जैन आदि स्थानों से हजारों जिज्ञासुगण आये थे। मध्यप्रदेश के राज्यमंत्री भी आये थे। यहाँ पाँच दिगम्बर जैन मंदिर हैं। प्रवचन में करीब पाँच हजार श्रोता धर्म जिज्ञासा से श्रवण करते थे। समयसार ७३वीं गाथा पर प्रवचन में स्वामीजी ने बतलाया कि आत्मा का स्वभाव राग से भिन्न, अपने ज्ञान-दर्शन स्वभाव से परिपूर्ण है; ऐसे अपने आत्मा का अंतर में निर्णय करना चाहिये। आत्मा कैसा है ? कि स्वयं प्रकाशमान प्रत्यक्ष ज्ञानज्योति है। इन्द्रियों के बिना, राग के बिना यह आत्मा अपने ज्ञान से ही स्वसंवेदनप्रत्यक्ष है। ऐसे आत्मा का निर्णय करके पश्चात् उसमें अंतर्मुख होने पर आत्मानुभूति अथवा सम्यग्दर्शन होता है। निर्विकल्प अनुभवयुक्त आनंद का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से होता है। किसप्रकार होता है, उसकी यह बात कही जा रही है।

आत्मा का स्वभाव पूर्ण ज्ञान-सुख से भरा हुआ है, उसकी जिसे खबर नहीं है और बाहर से सुख लेना चाहता है, वह जीव याचक-भिखारी है। अपने में अनंत सुखनिधि भरी है, उसका तो अज्ञानी उपभोग नहीं करता-जानता भी नहीं और दूसरे मुझे सुख दें, धन दे तो मुझे सुख मिले। घर हो, वस्त्रादि हो तो मुझे सुख मिले, ऐसा मानकर दीन-पराधीन होता है। निजनिधान को ही अपना जाननेवाला ज्ञानी तो जानता है कि जगत के किसी पदार्थ का अंश भी मुझे नहीं चाहिये, मेरा सुख तो अपने में है। इसप्रकार वह जगत से उदास है। पर से भिन्न ऐसे निजस्वभाव को पहचाने बिना जगत के प्रति सच्ची उदासीनता या सच्चा वैराग्य नहीं होता।

आत्मानुभव के बिना जीव ने अनादि काल से शुभाशुभभाव ही किये हैं किंतु धर्म तो शुभाशुभ से भिन्न जाति का है; आत्मा का सम्यग्दर्शन राग से सदा भिन्न ऐसे चिदानंद स्वभाव की श्रद्धारूप है। यह बात उच्च प्रकार की है; किंतु उसका अर्थ ऐसा नहीं कि न हो सके। धर्मसभा में जाकर दिव्यध्वनि भी अनंतबार सुनी, आत्मा का ज्ञान किये बिना दिव्यध्वनि का

श्रवण भी जीव को धर्म के लिये कारण न हो सका, अत: सम्यग्दर्शन दिव्यध्वनि के आश्रय से नहीं है; सम्यग्दर्शन तो आत्मा के भूतार्थस्वभाव के ही आश्रय से है। ऐसे स्वभाव का आश्रय करनेवाले सम्यग्दृष्टि ही जगत में सुखी हैं, बाकी देवलोक निवासी देव भी दु:खी ही हैं, राजा भी दु:खी हैं। भैया, इस अवसर में यदि तू अपने आत्मा की पहचान नहीं करेगा तो आयु पूर्ण होने पर कहाँ जायेगा? आत्मा के ज्ञानस्वभाव के बिना अन्यत्र कहीं भी शांति का स्थान नहीं है।

सम्यग्दर्शन होने पर जीव जानता है कि मेरा आत्मा इस देह से भिन्न चेतनरूप-सिद्धसमान है, उसकी प्रतीति होने से मेरी चेतना जागी है। व्यावहारिक अशुद्धभावों का मैं स्वामी नहीं हूँ, न उनमें तन्मय हूँ। ऐसी अनुभव-कला के द्वारा अल्पकाल में जन्म-मरण का नाश हो जाता है।

अहो, जगत में आत्मा को जाननेवाले जीव अत्यल्प ही हैं। अनेक जीव तो आत्मज्ञान के बिना धर्म के नाम पर विसंवाद ही करते हैं। आत्मा क्या वस्तु हैं? प्रथम उसका सच्चा निर्णय करना चाहिये। सच्चा निर्णय करे तो राग में धर्म की बुद्धि न रहे। भाई, एक बार ऐसे आत्मा की पहचान तो कर। जड़ देह का स्पर्श अरूपी आत्मा को नहीं है, राग का भी स्पर्श चैतन्यस्वरूप में नहीं है। चैतन्यभाव रागरूप नहीं है, राग चैतन्यभावरूप नहीं है, दोनों अत्यंत भिन्न हैं। ऐसा भेदज्ञान करने पर ज्ञान प्रकाश प्रगट हुआ, वहीं से मोह का नाश हो गया, अब फिर मोह नहीं होता; परवस्तु का अंश अपनेरूप भासित नहीं होता—ऐसा भेदज्ञान का प्रकाश प्रगट करना, वह मोक्ष का उपाय है।

प्रवचन के बाद जिनमंदिर में भक्ति होती थी। सुंदर आध्यात्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर कुछ श्वेताम्बर जैन बंधुओं ने अपने चौक में भी प्रवचन करने की विनती की थी; परंतु दो दिन का कार्यक्रम समाप्त हो जाने से उनकी इच्छा पूरी न हो सकी। तीसरे दिन प्रात:काल पूज्य स्वामीजी ने दाहोद की ओर प्रस्थान किया।

विविध समाचार

सोनगढ़—तारीख २९-६-७० परमोपकारी पूज्य स्वामीजी सुख-शांति में विराजमान हैं। प्रवचन में सवेरे समयसार तथा दोपहर को अष्टपाहुड़ द्वारा जिनवाणी की अच्छी तरह भक्तिपूर्वक प्रभावना हो रही है; लाभ लेनेवालों की संख्या बढ़ रही है।

परमागम मंदिर-निर्माण का कार्य चालू है। वदी ६ समवसरण जिनमंदिर वर्षगाँठ तथा वदी ८ को श्री समयसारजी स्थापना की वर्षगाँठ, जेठ सुदी ५ श्रुतपंचमी पर्व भी रथयात्रा जिनेन्द्र पूजा अभिषेक सहित मनाया गया।

टोडरमलजी स्मारक भवन के तत्त्वावधान में प्रशिक्षण शिविर का असाधारण आयोजन

विदिशा (मध्यप्रदेश)—स्थानीय दिगम्बर जैन मुमुक्षु मंडल की उत्तम भावनानुसार सर्वप्रकार सफल आयोजन रहा। सोनगढ़ से श्री खेमचंदभाई, फतेपुर से श्री बाबूभाई, जयपुर से श्री नेमीचंदजी पाटनी तथा पंडित हुकमचंदजी शास्त्री तथा श्री महेन्द्रकुमारजी सेठीजी के आ जाने से भारी उत्साह रहा। तारीख २-६-७० प्रथम दिन प्रशिक्षण शिविर का उद्घाटन श्री सेठीजी की अध्यक्षता में हुआ। जयपुर, नागपुर, अशोकनगर, चंदेरी, भोपाल, इटावा, रायपुर, वाराणसी, ललितपुर आदि दूर-दूर से ११२ संख्या में अध्यापक एवं अध्यापिकायें आये थे। करीब आधी संख्या अध्यापिकाओं की थी। बालबोध प्रशिक्षण कक्षा पंडित रतनचंदजी लेते थे; वीतरागविज्ञान कक्षा पंडित हुकमचंदजी लेते थे। ५०० विद्यार्थी पढ़ते थे। कार्यक्रम सवेरे ५ से ९ बजे तक चलता था। श्री खेमचंदभाई शेठ द्वारा प्रवचन होता था। जिसमें २५०० स्त्री-पुरुष बड़ी रुचि एवं एकाग्रता से सुनते थे। सवेरे ट्रेइंड अध्यापक २-३ कक्षा में विद्यार्थी को पढ़ाते थे; दोपहर को महिलाओं की कक्षा थी; अध्यापक बदलते रहते थे। २ से ५ तक प्रशिक्षण शिविर चलता था। रोजाना सभी अध्यापकों को जिनेन्द्रपूजा तथा सायंकाल ६ से ७ जिनेन्द्रभक्ति का कार्यक्रम अनिवार्य था। रात्रि ८ से ९ श्री खेमचंदभाई का प्रवचन। बाहर के लोग भी यहाँ आकर कार्यक्रम में भाग लेते थे। दोपहर में श्री खेमचंदभाई से शंका-समाधान करते थे। प्रशिक्षण द्वारा सभी को तत्त्वज्ञान के प्रति उत्साह बढ़ रहा है। पंडित श्री हुकमचंदजी की प्रशिक्षण शैली एवं प्र. शि. की व्यवस्था बहुत प्रभावक होने से इस ख्याति को सुनकर दूर-दूर से लोग देखने-सुनने को आते थे, स्थानीय डिग्री कोलेज तथा स्कूल आदि के प्रिन्सिपल भी इस धार्मिक शिक्षा पद्धति को देखकर बहुत प्रसन्न होते थे। तारीख ९ से श्री बाबूभाई फतेपुरवालों के प्रवचन प्रारंभ हुए थे। (शेष समाचार अगले अंक में)

नये प्रकाशन

मोक्षमार्गप्रकाशक (आधुनिक भाषा में दूसरी आवृत्ति)

आचार्यकल्प पंडितप्रवर श्री टोडरमलजी कृत यह उत्तम रचना है, मूल स्वहस्तलिखित प्रति के ऊपर से अक्षरश: अनुवाद कराके बड़े भारी परिश्रम पूर्वक और अपूर्व उत्साह के साथ जिनवाणी की भक्ति द्वारा यह ग्रंथ तैयार किया गया है। ग्रंथ के अंत में पंडितजी कृत रहस्यपूर्ण चिट्ठी तथा कविवर पंडित श्री बनारसीदासजी कृत परमार्थ वचनिका, निमित्त-उपादान चिट्ठी यह तीनों भी मूल प्रतियाँ प्राप्त करके प्रकाशन में सम्मिलित कर लिये गये हैं। प्रथमावृत्ति ११००० थी जो तुरंत बिक गई थी; ७००० छपी है। पहले ही छह हजार के ग्राहक हो चुके हैं। पृष्ठ संख्या ४०८ बड़ी साइज में हैं। उत्तम ज्ञान प्रचारार्थ मूल्य २-५० रखा गया है। पोस्टेजादि अलग। जिनके आर्डर आ चुके हैं, आनेवाले हैं, सबसे प्रार्थना है कि अपना पूरा पता रेलवे स्टेशन, सहित स्पष्ट लिखने का कष्ट करें।

विशेष:—मोक्षमार्गप्रकाशक के सातवें अध्याय की १००० प्रतियाँ अलग छपी हैं जिसका मूल्य मात्र पचास पैसे है।

छहढाला (सचित्र पाँचवीं आवृत्ति)

यह पुस्तक जैनसमाज में पाठ्य-पुस्तकरूप में अति प्रसिद्ध होने से सर्वत्र छपती है, सोनगढ़ से इस पुस्तक की छह आवृत्तियाँ सादा और पाँच आवृत्तियाँ सचित्र प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रथम आवृत्ति ११५०० छपी थी; मराठी भाषा में ५००० छप चुकी हैं जो जिज्ञासुओं में पढ़ने की रुचि का माप है। इसमें आत्महित का उपाय गागर में सागर की भाँति भरा है, पूर्वाचार्यों के सर्व उपदेश का सार है, जैन तत्त्वज्ञान सुगम शैली से भरा है, सभी के लिये बारम्बार स्वाध्याय योग्य है। पृष्ठ २०८, मूल्य १-०, पोस्टेज अलग।

योगसार (हिन्दी पद्यानुवाद) श्री योगीन्दुदेवकृत मूल्य ०-१५ पोस्टेज अलग।

प्रेस में:— श्रावकधर्म प्रकाश (द्वितीयावृत्ति)

नाटक समयसार (पंडित बनारसीदासजी रचित)

समयसार प्रवचन (जीव-अजीव अधिकार पर पूज्य स्वामीजी के प्रवचन)

जैन बालपोथी (दूसरा भाग)

पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

अरे जीव.....

अरे जीव! रत्नत्रय के सुंदर पुष्पों से खिले हुए अपने चैतन्यबाग में पाँच इन्द्रिय विषयरूपी ऊँटों को तू स्वतंत्र मत छोड़ देना, अन्यथा यह ऊँट तेरे उत्तम चैतन्यबाग को नष्ट कर डालेंगे। सम्यक्त्व सहित उत्तम वैराग्यरूपी वाड़ से अपने चैतन्यबाग की रक्षा करना।

❀❀ ❀❀ ❀❀

भगवत्! धर्म सूक्ष्म है, अर्थात् सर्वज्ञ का वीतराग धर्म सूक्ष्म है; राग तो स्थूलपरिणामी है, उसके द्वारा भगवत् धर्म प्राप्त नहीं किया जा सकता। सूक्ष्म ऐसा भगवत् धर्म-वीतराग धर्म, वह तो सूक्ष्म-अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

भूल सुधार

आत्मधर्म के गतांक में पृष्ठ १९ में दसवें बोल में गलत छपा है—सो ऐसा सुधारकर पढ़ें—

भरतक्षेत्र का कोई जीव सीमंधरप्रभु के पास में गया एवं वहाँ क्षायिकसम्यग्दर्शन प्राप्त किया—यह बात संभवित है। परंतु पंचम काल में भरतक्षेत्र में जन्मे हुए जीव के लिये बात संभव नहीं है—क्योंकि उस जीव में क्षायिकसम्यक्त्व की योग्यता ही नहीं है।

विश्वतत्त्वों का सत्यस्वरूप सम्यक् अनेकांत द्वारा बतलाकर सच्चा समाधान, एवं अपूर्व शांति का उपाय दर्शानेवाले—

सुरुचिपूर्ण प्रकाशन

१	समयसार	(प्रेस में)
२	प्रवचनसार	४.००
३	समयसार कलश-टीका	२.७५
४	पंचास्तिकाय-संग्रह	३.५०
५	नियमसार	४.००
६	समयसार प्रवचन (भाग-४)	४.००
७	मुक्ति का मार्ग	०.५०
८	जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला भाग-१	०.७५
	'' '' '' भाग-२	१.००
	'' '' '' भाग-३	०.५०
९	चिद्विलास	१.५०
१०	जैन बालपोथी	०.२५
११	समयसार पद्यानुवाद	०.२५
१२	द्रव्यसंग्रह	०.८५
१३	छहढाला (सचित्र)	१.००
१४	अध्यात्म-संदेश	१.५०
१५	नियमसार (हरिगीत)	०.२५
१६	धर्म के संबंध में अनेक भूलें	बिना मूल्य
१७	अष्ट-प्रवचन	१.५०
१८	मोक्षमार्गप्रकाशक (ढूंढारी भाषा में) (सस्ती ग्रंथमाला दिल्ली)	२.२५
१९	अपूर्व अवसर-प्रवचन	१.५०
२०	पण्डित टोडरमलजी स्मारिका	१.००
२१	बालबोध पाठमाला, भाग-१	०.४०
२२	बालबोध पाठमाला, भाग-२	०.५०
२३	बालबोध पाठमाला, भाग-३	०.५५
२४	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-१	०.५०
२५	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-२	०.६५
२६	वीतरागविज्ञान पाठमाला, भाग-३	०.६५
	छह पुस्तकों का कुल मूल्य	३.२५
२७	लघु जैन सिद्धांत प्रवेशिका	०.२५
२८	सन्मति संदेश (पूज्य श्री कानजीस्वामी विशेषांक)	०.५०
२९	मंगल तीर्थयात्रा (गुजराती-सचित्र)	६.००

प्राप्तिस्थान :

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मंदिर ट्रस्ट,

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़ के लिये प्रकाशक एवं मुद्रक :

मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

इस अंक का कोडपत्र

विदिशा (म.प्र.) में प्रशिक्षण शिविर का भव्य आयोजन

जैन प्रशिक्षण शिविर का विशाल आयोजन तारीख २-६-७० से तारीख २१-६-७० तक रहा, उसमें तारीख ८ तक के समाचार दिये हैं; शेष समाचार में श्री पाटनीजी लिखते हैं कि यह शिविर बहुत ही सफल रहा। फतेपुर निवासी श्री बाबूभाई का प्रवचन, शंका-समाधान का कार्यक्रम अति उत्तम रहा। तारीख २१-६-७० को अंतिम दिन होने से सन्मान-पत्र आदि बहुत विशेष कार्यक्रम थे। बंबई से श्री नवनीतभाई सी. जवेरी, सागर से सेठ भगवानदासजी, भोपाल से श्री डालचंदजी, राजमलजी, सूरजमलजी आदि बहुत लोग आ गये थे।

श्री पंडित जगन्मोहनलालजी शास्त्री कटनी, पंडित प्रकाशचंदजी हितैषी, बंबई तथा खुरई से भी बहुत लोग आये थे। पंडित जगन्मोहनलालजी की अध्यक्षता में श्री नवनीतभाई, श्री बाबूभाई, श्री पंडित हुकमचंदजी को विदिशा जैनसमाज द्वारा सन्मान-पत्र दिये गये।

म.प्र. मुमुक्षु मंडल का अधिवेशन श्री सेठ भगवानदासजी की अध्यक्षता में हुआ, वीतरागविज्ञान विद्यापीठ परीक्षाबोर्ड की मीटिंग श्री नवनीतभाई की अध्यक्षता में की गई तथा विद्यापीठ का दीक्षांत समारोह पंडित जगन्मोहनलालजी की अध्यक्षता में हुआ। दीक्षांत प्रवचन-श्री नवनीतभाई ने दिया। तारीख २० को श्रीजी की रथयात्रा निकाली गई, उसी दिन नवीन वीतराग विज्ञान पाठशाला चालू करने का उद्घाटन हुआ।

प्रात: ५ बजे से रात्रि १० बजे तक ठोस कार्यक्रम चलता था। मोक्षमार्गप्रकाशक तथा समयसार पर प्रवचन बाबूभाई का होता था, सभा में उपस्थिति ३००० उपरांत रहती थी, लगातार २२ दिन तक इतनी बड़ी संख्या में आ आकर लोग बड़ी शांति-एकाग्रता से सुनते थे, श्री बाबूभाई के प्रवचन में भारी रोचकता दृढ़ता होने से लोगों का आकर्षण बहुत था। प्रशिक्षण शिविर में बड़े-बड़े अध्यापक एवं अध्यापिकाओं की संख्या ११३ की थी। परीक्षा पत्र देखने से मालूम होता है कि सभी ने अच्छी मेहनत की है। अध्यापकों में बी.ए., एम.ए., बी.एड., शास्त्री, न्यायतीर्थ, हेडमास्टर तथा प्रोफेसर आदि थे, अजैन भी थे। नागपुर, आगरा, भोपाल, इटावा, एत्मादपुर, खंडवा, उदयपुर, इंदौर, उज्जैन, जयपुर, ललितपुर, खुरई, जबलपुर, चंदेरी, अशोकनगर, सोनगढ़ आदि दूर से भी पढ़ने आये थे। विद्यार्थी जिनको अध्यापक पढ़ाते थे

उनकी संख्या ५०० तथा १०० प्रौढ़वय की महिलाएँ कुल ६०० शिक्षार्थी परीक्षा में बैठे थे। इस वर्ष जयपुर-वीतराग विज्ञान विद्यापीठ की परीक्षा देनेवालों की संख्या ९००० हो चुकी है। इंदौर, विदिशा, खुरई आदि कई शहरों के स्कूलों में वीतरागविज्ञान पाठमाला का पाठ्यक्रम चालू करने का आश्वासन मिला है। विदिशा में तारीख २०-६-७० को शिविर में आये हुए अध्यापकों एवं अध्यापिकाओं ने एक मीटिंग बुलाई थी, उसमें सभी ने बहुत उत्साह प्रगट किया। पन्द्रह जनों ने भाषण किये, सभी ने लिखकर दिया कि हम सब अपने-अपने क्षेत्र में जाकर इस शिक्षा का हर प्रकार से प्रचार करेंगे, रात्रि-पाठशाला चलावेंगे, कई ने फ्री पाठशाला चलाने का आश्वासन दिया।

श्री टोडरमलजी स्मारक भवन की तरफ से वीतरागविज्ञान पाठशालाएँ जगह-जगह चालू करने की योजना चल रही है, उनके अंतर्गत अभी १० पाठशालाएँ हमारे अनुदान से तथा ७ पाठशालाएँ बिना अनुदान से चल रही हैं। एक पाठशाला चलाने को हम रुपये २०) माहवार अनुदान देते हैं। गत वर्ष श्री महेन्द्रकुमार सेठी तथा श्री ताराचंदजी गंगवाल कलकत्ता की तरफ से पाँच-पाँच पाठशालाएँ चल रही थीं, अब १० पाठशाला आगे भी एक वर्ष तक उनकी तरफ से चलेंगी, उपरांत निम्न प्रकार २३ पाठशालाएँ चलाने की स्वीकृति मिली है—१० सेठ नवनीतभाई सी. जवेरी की ओर से; ५ विदिशा निवासी सेठ लखमीचंदजी (राजेन्द्रकुमारजी) ट्रस्ट।

५ सागर निवासी सेठ भगवानदासजी की ओर से, एक वर्ष के लिये;

२ सेठ मुन्नालालजी जवाहरलालजी विदिशा एक वर्ष के लिये;

१ सेठ सुन्दरलालजी नागपुर एक वर्ष के लिये;

कुल ३३ पाठशालाएँ चलेंगी। तदुपरांत इस साल बिना अनुदान की १७ संख्या मिलकर ५० पाठशाला की संख्या हो जानी चाहिये। यह भी बहुत बड़ा प्रशंसनीय कार्य हो गया है।

इस वर्ष जयपुर वीतराग विज्ञान विद्यापीठ की ओर से एक नई योजना चालू करने की घोषणा की है। मध्यप्रदेश में दशहरा-दिवाली के अवसर पर स्कूलों में २० दिन की छुट्टियाँ होती हैं। अत: उन दिनों में सिर्फ १२ दिन के लिये अकेले विद्यार्थियों को धार्मिक शिक्षा देने के लिये शिविर चलाने की योजना जाहिर की है—उसका सारा प्रबंध, सब पढ़ाई का टोडरमल स्मारक भवन करेगा—शिविर बुलानेवाले को करीब ५०० विद्यार्थी तथा अध्यापकों तथा

परीक्षा बोर्ड ऑफिस को आने-जाने का तथा रहने खाने का प्रबंध करना पड़ेगा। हमारे शिक्षित अध्यापक जिन्होंने परीक्षा पास की है, उन्हीं में से अच्छे-अच्छे देखकर बुलावेंगे। यह योजना जाहिर करके मध्यप्रदेश मुमुक्षु मंडल को सौंप दी है कि वे इस वर्ष यह शिविर जिस जगह लगवाना चाहें नक्की करके लिखें। १०३ अध्यापक तैयार हो गये हैं, इसलिये अब शिक्षण शिविर लगाने में कठिनता नहीं होगी। जिसको जब भी चाहिये, उन लोगों में से भेजे जा सकेंगे। उपरोक्त कार्यों को गतिशील बनाने के लिये सारे भारत भर में प्रान्तवार कमेटियाँ बनाई हैं ताकि अपने-अपने प्रदेश में कमेटियाँ योग्य प्रचार कर सकें।

हमारी पाठय-पुस्तकों का मराठी भाषा में भी अनुवाद-कार्य चल रहा है।

—नेमीचंद पाटनी, मंत्री, टोडरमल स्मारक भवन, जयपुर

सोनगढ़ में
प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी सोनगढ़ में प्रौढ़ जैन शिक्षण-शिविर श्रावण शुक्ला पंचमी शुक्रवार, दिनांक ७-८-७० से प्रारंभ होकर भाद्रपद कृष्णा १० बुधवार, तारीख २६-८-७० तक चलेगा।

शिविर में सम्मिलित होने के इच्छुक मुमुक्षु भाई अपने आने की सूचना नाम व पूरे पते सहित भिजवा देवें, ताकि व्यवस्था में सुविधा रहे।

आनेवाले भाईयों से निवेदन है कि अपना विस्तार एवं आवश्यक सामान साथ लेते आयें। आवास एवं भोजन की व्यवस्था संस्था की ओर से की जाती है।

पता—

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ़ (सौराष्ट्र)